श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिकी
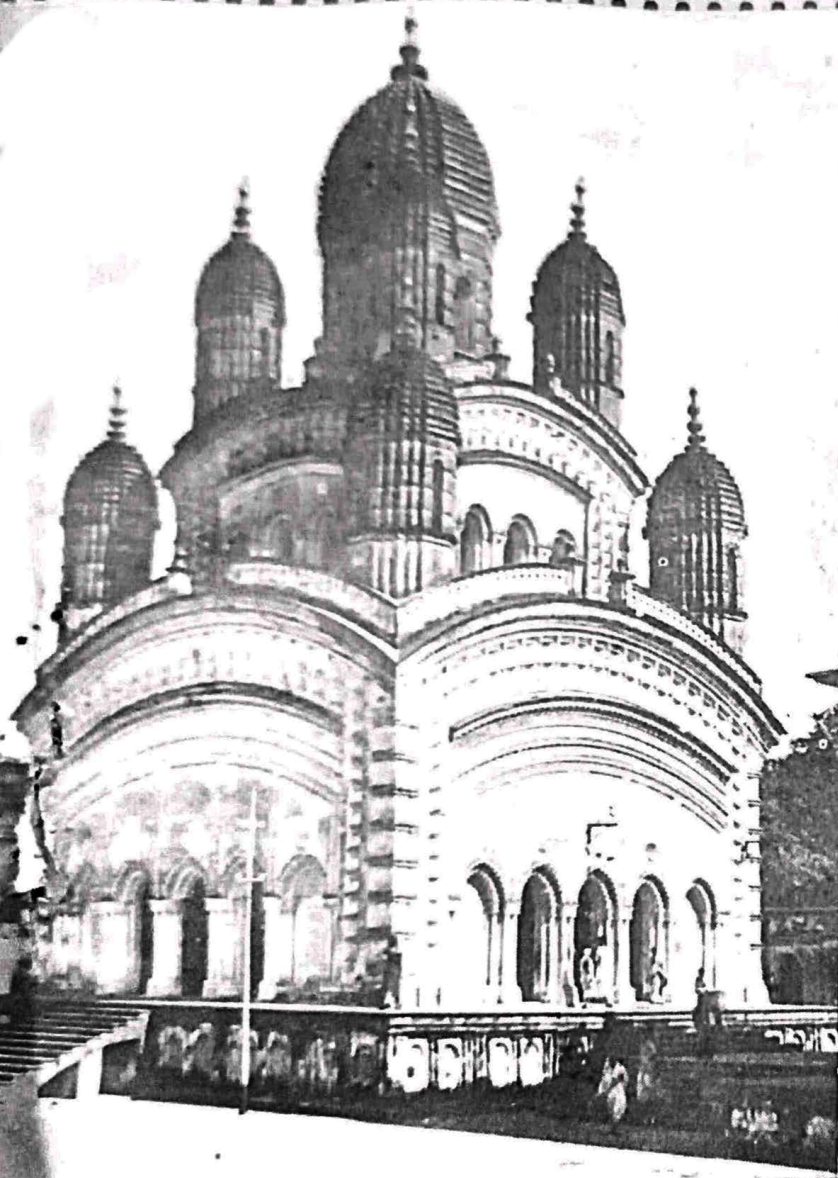
विवेक शिखा

वर्ष-११ जुलाई-१९९२ अंक-७

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

९१. श्रीमती कमला घोष —इलाहाबाद
९२. श्री एस. डी. शर्मा अहमदाबाद
९३. श्रीमती प्रभा भार्गव—बीकानेर (राजस्थान)
९४. श्री शशिकांत मिश्र—नारायणपुर (मध्य प्रदेश)
९५. श्री के० सी० सर्राफ—बम्बई
९६. श्री ए० के० चटर्जी, आइ. ए. एस.—पटना
९७ सचिव, थियोसोफिकल लॉज—छपरा (बिहार)
९८. श्री सुभाष वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
९९. श्री दिलीप देसाई, बरोदा (गुजरात)
१००. श्रीरामकृष्ण आश्रम—इन्दौर (म० प्र०)
१०१. सारदापीठ विद्यालय — इन्दौर (म० प्र०)
१०२. डॉ० ओमप्रकाश वर्मा—रायपुर (म० प्र०)
१०३. विवेकानन्द विद्यापीठ—भोपाल (म० प्र०)
१०४. रामकृष्ण मठ —जामतारा (बिहार)
१०५. श्री सुनील खण्डेलवाल—रायपुर (मध्य प्रदेश)
१०६. श्री बसन्त लाल गुप्ता—नागपुर (महाराष्ट्र)
१०७. श्री जयेश ब्रह्मभट्ट —पुणे (महाराष्ट्र)
१०८. श्री नरेन्द्र कुमार टाक — अजमेर (राजस्थान)
१०९. श्री महन्त युक्तिरामजी —जोधपुर (राजस्थान)
११०. श्री राय मनेन्द्र प्रसाद जमशेदपुर (बिहार)
१११. कुमारी उषा हेगड़े—पुणे (महाराष्ट्र)
११२ श्री विजय प्रकाश—पुणे (महाराष्ट्र)
११३. डॉ० पी० सी० सिन्हा— रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११४. डॉ० एच० पी० सिंह—रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११५. मानस समिति, लुमडिंग (आसाम)
११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४ श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)

इस अंक में

पृष्ठ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—११ १९९२—जुलाई अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

तुम यदि संसार में निर्लिप्त भाव से रहना चाहो तो पहले तुम्हें निर्जन में रहकर साधना करनी चाहिए। निर्जन में जाना जरूरी है—एक साल के लिए, छह महीने के लिए, एक महीने के लिए या कम-से-कम बारह ही दिनों के लिए सही। एकान्त में रहते हुए ईश्वर का आन्तरिकता के साथ ध्यान-चिन्तन करना चाहिए—'इस संसार में मेरा कोई नहीं है। जिन्हें मैं अपना समझता हूँ वे दो दिनों के लिए हैं—सब चले जानेवाले हैं। भगवान् ही मेरे आत्मीयजन हैं। वे मेरे सर्वस्व हैं। हाय, उन्हें मैं कैसे पाऊँ?' यही सब चिन्तन करते रहना चाहिए।

(२)

योगी और संन्यासी सर्प के समान होते हैं। सर्प अपने लिए कभी बिल नहीं बनाता, वह सदा चूहे के बिल में रहता है। एक बिल नष्ट हो जाए तो दूसरे में चला जाता है। योगी-संन्यासी लोग भी, इसी तरह, अपने लिए घर नहीं बनाते। वे दूसरों के यहाँ रहते हैं—आज यहाँ तो कल वहाँ, इस तरह दिन बिताते हैं।

(३)

जो सच्चा भक्त है, जो आकण्ठ भगवत्प्रेम का प्याला पीकर नशे में मतवाला बन गया है, वह सब समय सामाजिक बन्धनों का पालन नहीं कर सकता।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन

मम हृद् वृंदावन में

मूल बँगला भजन

(धुन—मनोहरसाही : ताल—झपताल)

हृदि-वृन्दावने वास
यदि करो कमलापति ।
ओहे भक्तिप्रिय ! आमार
भक्ति होबे राधासती ॥ ध्रु० ॥
मुक्तिकामना आमारि,
होबे वृंदे गोपनारी,
देह होबे नन्देर पुरी,
स्नेह होबे मा यशोमती ॥ १ ॥
आमाय धरो-धरो जर्नादन,
पापभार गोवर्धन,
कामादि छय कंसचरे
ध्वंस करो संप्रति ॥ २ ॥
बाजाये कृपा-बांशरि
मनु-धेनुके वश करि,
तिष्ठ हृदिगोष्ठे
पुराओ इष्ट एइ मिनति ॥ ३ ॥
आमार प्रेमरूप-यमुनाकूले,
आशा-वंशीवटमूले,
स्वदास भैवे सदयभावे,
सतत करो वसति ॥ ४ ॥
यदि बोलो राखाल-प्रेमे
बंदी थाकी व्रजधामे,
तब ज्ञानहीन राखाल तोमार
दास होबे हे 'दाशरथि' ॥ ५ ॥

—श्री दाशरथि राय

भावानुवाद

(राग—माँड़ : ताल—कहरवा)

मम हृद्-वृदांवन में यदि तुम
करो निवास नाथ कमलापति ।
भक्तिप्रिय प्रभो ! तब तो मेरी
भक्ति बनेगी तव राधासति ॥ ध्रु० ॥
यही मुक्तिकामना हमारी
होगी तब वृंदा व्रजनारी ।
देह बनेगी नंदपुरी औ
स्नेह बनेगा मात यशोमति ॥ १ ॥
धारण मुझको करो जनार्दन,
मैं ही पापभार-गोवर्धन ।
कामादि छहों कंसचरों का
ध्वंस करो तुम नाथ शीघ्र अति ॥२॥
बजा-बजा निज कृपा-बाँसुरी,
मनोधेनु को वश कर लो हरि ।
चित्तगोष्ठ में राजमान हो
पूर्ण करो इच्छा यही विनति ॥ ३ ॥
प्रेमरूप यमुना के तट पर,
आशा-वंशीबट है सुन्दर ।
सदा सदय हो स्वदास पर तुम,
करो वहीं स्वामी सतत वसति ॥४॥
अगर कहो तुम 'ग्वाल-प्रेम ने,
बांध रखा है मुझको व्रज में ।'
तब तो ग्वाल बनेगा ये ही
ज्ञानहीन तव दास 'दाशरथि' ॥ ५ ॥

—सारदातनय

स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज की महासमाधि

बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि विश्वव्यापी रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ साधु तथा रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के पूर्व सचिव श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज (अनुकूल महाराज) रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में रविवार, २१ जून, १९९२ को ३ बजकर ३० मिनट पर महासमाधि में लीन हो गये। उनकी आयु ९२ वर्ष की थी। गत १४ जून को गंभीर मूत्र-विकार के कारण सेवाश्रम के अस्पताल में भर्ती किये गये थे। २१ जूनको प्रातः ७.३० बजे गैरिक वस्त्र में आवृत उनके पार्थिव शरीर को रामकृष्ण हरि, रामकृष्ण शरणम् आदि भजनों के बीच सेवाश्रम के साधु-ब्रह्मचारियों ने मणिकर्णिका घाट ले जाकर मध्य गंगा के ब्रह्मकुंड में उन्हें सलिल-समाधि दे दी।

श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण के लीला पार्षद एवं अन्यतम शिष्य तथा रामकृष्ण मठ एवं मिशन के द्वितीय महाध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी महाराज से मंत्र दीक्षा ली थी। उन्होंने १९२२ ई० में रामकृष्ण संध के सारिशा आश्रम में एक ब्रह्मचारी के रूप में प्रवेश लिया और स्वामी शिवानन्दजी महाराज से हो १९२८ ई० में संन्यास ग्रहण किया।

श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन के रांची सेनिटोरियम केन्द्र के संस्थापकों में से एक थे तथा १९४८ से १९७१ ई० तक वे इस केन्द्र के प्रधान भी रहे। १९७३ ई० में वे रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव नियुक्त हुए और १९८६ ई० तक उसी पद पर वहाँ प्रतिष्ठित रहे। १९८६ में स्वेच्छा से अवकाश ग्रहण कर कुछ दिनों तक पटना आश्रम में रहने के बाद वे रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में अपने भौतिक जीवन के अंतिम क्षणों तक निवास करते रहे।

श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज का जीवन कठोर तपश्चर्या और गहन अध्ययनशीलता का जीवन था। ज्ञान, कर्म, और भक्ति, एक साथ ही उनके जीवन में मूर्तिमंत हो गये थे। उनके समय में पटना आश्रम का बहुमुखी विकास हुआ और श्रीरामकृष्णदेव का एक भव्य वृहत् मंदिर का भी निर्माण हुआ। उनके कार्यकाल में पटना आश्रम से प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाली स्मारिका ने समग्र भारत में अपनी एक विशिष्ट पहचान ली थी। श्री सारदा देवी, नारद भक्ति सूत्र, विवेक चूड़ामणि, गीता पाठ आदि कुछ एक ग्रन्थों का प्रणयन कर उन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा एवं मौलिक चिन्तन का परिचय दिया था। उनमें नारद भक्ति सूत्र, तथा सारदादेवी का तो हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ जो काफी लोकप्रिय सिद्ध हुए।

बिहार में नये नये आश्रमों की स्थापना में स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज गहरी रुचि लेते थे। मुजफ्फरपुर स्थित रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवाश्रम के भव्य रामकृष्ण मन्दिर का शिलान्यास उन्होंने ही किया था। छपरा में श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम की स्थापना के वे ही प्रथम प्रेरणा स्रोत थे और इस आश्रम का शिलान्यास भी उन्होंने ही किया था जिसका समर्पण परमपूज्य श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज, परम उपाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं

मिशन के कर कमलों द्वारा ११ अप्रैल १९९२ को हुआ था। विवेक शिखा के प्रचार-प्रसार में भी उनका आंतरिक सहयोग सदैव मिलता रहा।

श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज, सादगी और सरलता, विद्वत्ता और विनम्रता तथा असंगता और मिलनसारिता के जीवन्त विग्रह थे। विनोद प्रियता की अंतः सालिला भी उनमें प्रवाहित रहती थी। इसके साथही वे प्रकृति के अनन्य अनुरागी थे। फूलों, विशेषकर गुलाब से उन्हें आन्तरिक लगाव था और इसके विशेषज्ञ माने जाते थे। शास्त्रों से उन्हें इतनी गहरी अभिरुचि थी कि रोग शय्या पर भी वे स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज से, भागवत गीता और योगवाशिष्ठ पढ़वाकर सुना करते थे।

श्रीमत् स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी महाराज, सचिव, रामकृष्ण, मिशन सेवाश्रम, वाराणसी ने उनकी आत्मा की अखण्ड शान्ति के लिए सेवाश्रम में २ जुलाई को एक भव्य भंडारा दिया। इसमें काशी के १२० विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं एवं श्रीरामकृष्ण के अनेक गृही भक्तों ने भाग लिया।

विवेक शिखा परिवार की ओर से श्रीरामकृष्ण-लोकवासी पूज्य श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज को शत-शत श्रद्धापूर्ण प्रणाम।

श्रीरामकृष्ण की अन्त्य लीला

—स्वामी प्रभानन्द
सहायक सचिव रामकृष्ण मठ एवं मिशन
अनुवादिका—डा० नन्दिता भार्गव

(श्यामपुकुर के भवन में श्रीरामकृष्ण)

(३)

शारद ऋतु का समय था। शारदीया दुर्गा पूजा का हर्षोल्लास कलकत्ते के निवासियों में तथा शहर में सर्वत्र दिखाई दे रहा था। परन्तु श्याम-पुकुर के मकान में, जहाँ श्रीरामकृष्ण रह रहे थे, वहाँ का वातावरण कुछ अलग था। स्वामी सारदानन्द ने लिखा है, क्वार के महीने में श्री शारदीया दुर्गापूजा के महोत्सव के समय कलकत्ता नगरी के बालक-वृद्ध-वनिता आदि सभी वर्ग के लोग प्रतिवर्ष की भाँति आनन्द में उन्मत्त हो रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों के हृदय में उस आनन्द प्रवाह का स्पर्श होने पर भी उसे व्यक्त करने में विशेष बाधा थी; क्योंकि जिन्हें लेकर उनका आनन्दोल्लास था, उनका शरीर अस्वस्थ था—श्रीरामकृष्ण देव गले के रोग से पीड़ित थे। कलकत्ता के श्यामपुकुर मुहल्ले में दो मंजिला मकान किराये पर लेकर भक्त वर्ग ने प्रायः एक मास पूर्व[1] उनको वहाँ लाकर रखा था। सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्रीमहेन्द्रलाल सरकार उनके उपचार का यथासाध्य प्रयास कर रहे थे। किन्तु रोग का उप-शमन होना दूर रहा, वह दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा था। गृहस्थभक्त गण[2] प्रतिदिन सांय प्रातः वहाँ आकर सब प्रकार की देखरेख तथा व्यवस्था कर रहे थे तथा युवक छात्र भक्तों में से

अधिकांश अपने घर पर केवल भोजनादि के लिए जाकर शेष समय श्री रामकृष्ण देव की सेवा शुश्रूषा में व्यतीत करते थे; आवश्यकतानुसार कोई कोई घर भी न जाकर चौबीस घन्टे वहां उपस्थित रहते थे।[3] गृहस्थ भक्तों में से भी कुछ एक जन, विशेषत: देवेन्द्र नाथ मजूमदार और मास्टर महाशय दिन और रात के भी अधिकांश समय ठाकुर की सेवा में व्यतीत करते थे।

अधिक बोलने चालने तथा बारम्बार समाधिस्थ होने से शरीर में रक्त प्रवाह ऊपर की ओर प्रवाहित होने से उससे घाव पर चोट पहुँचने के कारण रोग का उपशमन नहीं होगा, इसलिए चिकित्सिक ने श्रीरामकृष्णदेव को विशेष रूप से सचेत रहने के लिए कहा था। इस व्यवस्था के अनुसार चलने का प्रयास करने पर भी कभी-कभी वे उसके विपरीत कर बैठते थे, क्योंकि हाड़ मांस का ढाँचा' मानकर अवज्ञापूर्वक जिस शरीर से उन्होंने अपने मन को हटा लिया था, साधारण मानव की तरह पुनः उसको बहुमूल्य वस्तु मानने में वे समर्थ नहीं हो पा रहे थे। भगवत प्रसंग के छिड़ते ही, शरीर तथा शरीर की रक्षा की बात को भूलकर, वे उसमें उसी प्रकार सम्मिलित हो बारम्बार समाधिस्थ हो जाते थे। जिन्होंने पहले उनका दर्शन नहीं किया था, ऐसे व्यक्ति वहाँ उपस्थित होते थे। उनके हृदय की व्याकुलता देखकर वे मौन नहीं रह पाते थे, धीरे-धीरे उन्हें साधनमार्ग का निर्देश दिया करते थे। इस सम्बन्ध में उनके निरन्तर उत्साह-आनन्द को देखकर भक्तों में से अधिकांश लोग श्रीरामकृष्ण देव के रोग को सामान्य तथा सहज साध्य मानकर निश्चिन्त हो रहे थे। और कोई कोई व्यक्ति, यह अभिमत प्रकट कर कि श्रीरामकृष्ण देव ने नवागतजनों के प्रति कृपा करके तथा अधिकांश लोगों में धर्मभाव प्रचार के निमित स्वेच्छापूर्वक कुछ दिन के लिए व्याधिरूप उपाय का अवलम्बन किया है, सभी को चिन्तामुक्त करने का प्रयास कर रहे थे।[4]

आज दुर्गा सप्तमी है। बृहस्पतिवार, १५ अक्टूबर १८८५ ई०। मास्टर महाशय भक्त प्राणकृष्ण मुखर्जी के घर गये थे। वहाँ उन्होंने खिचड़ी का प्रसाद पाया। वहीं से वे नरेन के घर गये। छोटे नरेन के पिता के साथ मास्टर महाशय ने लगभग दो घन्टे तक बातचीत की। तत्पश्चात् वे श्यामपुकुर के मकान में आये। जब वे श्रीरामकृष्ण के कमरे में पहुँचे तो लगभग अपराह्न के चार बज चुके थे।

मणि मल्लिक तथा कुछ और भक्त ठाकुर के सामने बैठे थे। मणि मल्लिक पुराने ब्राह्म भक्त हैं। उनकी उम्र ७० की होगी। वे ८१ न० चितपुर रोड़ सिन्दुरिया पट्टी मुहल्ले में रहते थे। श्रीरामकृष्ण ने सुना था कि एक वकील पिछले पांच साल से बीमार है। उन्होंने वहाँ उपस्थित बलराम बसु को उस बीमार वकील के बारे में ठीक-ठीक खबर पता करने के लिये कहा।

नन्दिनी मणि मल्लिक की एक अल्प वयस्क विधवा आत्मीया है। वह बहुत भक्तिमती है। नन्दिनी श्रीरामकृष्ण के पास आती है। एक दिन उसने आकर अत्यन्त कातर भाव से कहा कि भगवान का ध्यान करते समय मन को स्थिर नहीं रख सकती। ध्यान करते समय सांसारिक चिन्ताएँ, किसी की बातें, किसी का चेहरा आदि मन में उदित होने के कारण चित्त अत्यन्त विक्षिप्त होने लगता है। यह सुनते ही श्रीरामकृष्ण ने उस महिला से पूछा किसके चेहरे की बात याद आती है? बताओ तो? नन्दिनी अपने एक छोटे से भतीजे का पालन पोषण करती थीं। उसी की आकृति उसके मन में उठती रहती थी। श्रीरामकृष्णदेव ने नन्दिनी को उस बालक को बालगोपाल के रूप में सेवा करने के लिए उपदेश दिया। वह स्त्री श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश को

कार्यरूप में परिणत कर कुछ दिनों में भाव समाधि में तल्लीन होने लगी थी।[5]

श्रीरामकृष्ण (मणि मल्लिक को) नन्दिनी को एक बार देखने की इच्छा हो रही है।

श्रीरामकृष्ण (मास्टर महाशय से), नन्दिनी बहुत भक्तिमती है।

डाक्टर सरकार अपने एक डाक्टर मित्र को साथ लेकर आये हैं। कुछ ही क्षण बाद नरेन्द्र ने भजन गाना प्रारम्भ किया। उस दिव्य स्वर-लहरी को सुनकर सभी लोग आत्मविभोर हो उठे। श्रीरामकृष्ण देव अपने समीप बैठे हुए डाक्टर साहब को धीमे स्वर से संगीत के भावार्थ को समझाने लगे। कभी वे स्वल्पकाल के लिए भावरूप हो गये। कोई कोई भक्त भी भावावेश के कारण वाह्यज्ञान खो बैठे। इस प्रकार उस घर के अन्दर आनन्द स्रोत प्रवाहित हो रहा था। रात के लगभग साढे सात बज गये। डाक्टर साहब को तब कहीं होश हुआ। डाक्टर साहब को और भी जगह जाना था। उन्होंने नरेन्द्र का पुत्र की भाँति आलिंगन किया तथा श्रीरामकृष्ण से विदा लेकर जाने के लिए उठ खड़े हुए......।[6] ठाकुर (मास्टर से) कितने बजे हैं ?

ठाकुर ने देवेन्द्र मजूमदार से पूछा, (समय) देखो तो, घड़ी है क्या ? समय जानने के लिए ठाकुर की व्यग्रता को देखकर मास्टर महाशय हैरान हुए।

समय पूछने के बाद ठाकुर श्रीरामकृष्ण गहरी समाधि में निमग्न हो गये। डाक्टर सरकार और उनके मित्र आश्चर्य चकित हो गये। क्योंकि डाक्टर साहब ने इस प्रकार को घटना कभी देखी न थी। कुछ क्षण बाद डाक्टर सरकार ने यन्त्र द्वारा श्री रामकृष्ण की परीक्षा की उनके मित्र ने यह देखने के लिए कि श्रीरामकृष्ण पलक मारते है या नहीं उनके खुले नेत्र में उंगली डालने की भी कमी नहीं की। डाक्टर सरकार और उनके मित्र ठाकुर की अवस्था को समझ नहीं पाये। फलस्वरूप आश्चर्यचकित हो उन्हें मानना पड़ा था कि बाहर से देखने में पूर्णतया मृत के समान प्रतीत होने पर भी श्रीरामकृष्ण की इस समाधि के सम्बन्ध में विज्ञान अभी तक किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाल सका है। पश्चात्य दार्शनिकों ने उसे जड़ मानकर घृणा के साथ अवज्ञा कर अपनी अज्ञता और इहसर्वस्यता का ही परिचय दिया है।[7]

श्रीरामकृष्ण की समाधि भंग होने के बाद डाक्टर सरकार और उनके मित्र चले गये। उन लोगों के चले जाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने समाधि अवस्था में जो दर्शन प्राप्त किया था उसका वर्णन करते हुए कहा कि आप ज्योतिर्मय मार्ग से सुरेन्द्र के दुर्गामण्डप में होकर आये हैं। भक्त सुरेन्द्र सिमला मुहल्ले में रहते हैं। इस वर्ष उन्होंने अपने घर शारदीया दुर्गा पूजा की है। पहले उनके घर पर प्रतिवर्ष दुर्गा पूजा हुआ करती थी, परन्तु विशेष विघ्न होने के कारण बहुत दिनों तक पूजा बन्द थी। श्रीरामकृष्ण की शक्ति पर विश्वास होने के कारण सुरेन्द्रनाथ दैवी विघ्नों से डरते नहीं थे। ठाकुर की अनुमति लेकर उन्होंने दुर्गा-पूजा पुनः आरम्भ कर दी। इस पर उनके घर के लोगों ने विरोध किया था। परन्तु सुरेन्द्र ने किसी बात की परवाह न कर समस्त व्ययभार अपने ऊपर लेकर अपने घर पर श्री जगदम्बा का आह्वान किया।

श्रीरामकृष्ण अपने दर्शन का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहने लगे, यहाँ से सुरेन्द्र के मकान तक मुझे एक ज्योतिर्मय मार्ग दिखाई दिया। मैंने देखा कि उसकी भक्ति के कारण देवी-प्रतिमा में माँ का आविर्भाव हुआ है। उनके तृतीय नेत्र से ज्योति की किरण निकल रही है। पूजन के मण्डल में देवी के सम्मुख दीपमाला प्रज्वलित की गयी तथा आंगन में बैठकर सुरेन्द्र व्याकुल हो, माँ,

माँ कहता हुआ रो रहा है।"

दशमी के दिन' (१८ अक्टूबर) सुबह के समय सुरेन्द्र आया। श्रीरामकृष्ण (सुरेन्द्र से) कल साढ़े सात बजे के लगभग मैंने भाव में तुम्हारे दालान में श्रीदेवी की प्रतिमा को देखा। चारों ओर ज्योति ही ज्योति थी, सब एकाकार हो गया था—यह और वह—दोनों जगह मानों ज्योति की एक तरंग बह रही थी—इस घर से तुम्हारे उस घर तक।"

सुरेन्द्र, "उस समय में देवीजी वाले दालान में खड़ा हुआ "माँ माँ" कहकर उन्हें पुकार रहा था। मेरे भाई मुझे छोड़कर ऊपर चले गये थे। मुझे लगा कि मां कह रही है, मैं फिर आऊँगी।"[10]

स्वामी अभेदानन्दजी का वृतान्त इससे कुछ भिन्न है। वे कहते हैं, "सारदीया महाअष्टमी के दिन शाम हो जाने के बाद संधि पूजन के समय भाव में विह्वल होकर ठाकुर एकाएक खड़े हो गये। नरेन्द्र, लाटू, निरंजन मैंने और दूसरे भक्तों ने उनके श्रीचरणों में पुष्पांजली अर्पित की। श्री श्रीठाकुर भाव-विभोर थे। बाह्य-ज्ञान आ जाने पर उन्होंने कहा, एक ज्योतिर्मय मार्ग देखा—यहाँ से सुरेन्द्र के पूजन के दालान तक। दुर्गा प्रतिमा के एक ओर सुरेन्द्र था—वह रो रहा था।"[11]

बैकुण्ठनाथ सान्याल ने इस दर्शन का एक सुन्दर विवरण दिया। वह लिखते हैं—"महा-अष्ठमी के पवित्र संधि पूजन के समय भक्त वत्सल प्रभु ज्योतिर्मय मार्ग से पूजन के मण्डप में पहुँच गये। उन्होंने देखा कि सुरेन्द्र की भक्ति से जगन्माता दुर्गा प्रतिमा में आविर्भूत हुई है। ... ... सुरेन्द्र भक्ति में विभोर होकर माँ माँ पुकारता हुआ रो रहा है। सुरेन्द्र की भक्ति से प्रसन्न होकर तथा उसकी आन्तरिकता को देखकर ठाकुर स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हुए। उन्होंने नरेन्द्र आदि सन्तानों को ये सारी बातें बतायीं—फिर उन सबको जगन्माता का प्रसाद पाने के लिए सुरेन्द्र के घर भेज दिया।"[12]

ठाकुर के आदेशानुसार नरेन्द्रनाथ, काली प्रसाद आदि भक्तगण सुरेन्द्र के घर गये। सुरेन्द्र को पूछने पर मालूम हुआ कि पूजन के दालान की जिस जगह के बारे में ठाकुर ने बताया था, वहाँ वास्तव में दीपमालाएँ सुसज्जित थीं। सुरेन्द्र देवी प्रतिमा के सामने आंगन में बैठ कर बच्चे की भांति जोर-जोर से लगभग एक घण्टे तक रोया था। स्वामी अभेदानन्द के लेख से ज्ञात होता है कि जिस समय सुरेन्द्र रो रहा था तो, एकाएक उसने श्रीरामकृष्ण को प्रतिमा के एक तरफ खड़े रहकर उसे आशीष देते देखा। यह सब देख सुन कर भक्त लोग विस्मय और आनन्द से स्तम्भित हो गये। भक्ति में विभोर होकर वे तब श्रीरामकृष्ण की महिमा का जय गान करने लगे।

इधर श्यामपुकुर वाले मकान में एक अनोखी लीला घट गयी। भक्त देवेन्द्र नाथ श्रीरामकृष्ण के सामने बैठे थे। भावावेश में श्रीरामकृष्ण देवेन्द्र की ओर गये और उसके वक्षस्थल पर अपना श्रीचरण रख दिया। भाव के उतरने पर उन्होंने देवेन्द्र को अपने हाथ से खाना खिलाया। बिना मांगे कृपा लाभ कर देवेन्द्र धन्य हो गये।

(१४)

उत्तर कलकत्ते में स्थित श्यामपुकुर के इस किराये के मकान में श्रीरामकृष्ण की पूर्व अन्तलीला की कथाएँ सुन्दर रूप से चल रही थीं। शारदीय दुर्गापूजन के कारण चारों दिशाएँ आनन्द से परिपूर्ण थीं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण के गले में भयानक रोग है—"कैंसर"। इसलिए उनके शिष्य तथा सेवकगण विषादपूर्ण है। परन्तु उस निराशामय अवस्था में भी बीच-बीच में श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व की कान्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की ज्योति झिलमिलाती रहती थी। उसे देखकर शिष्यगण मोहित हो जाते थे और श्रीरामकृष्ण के प्रति अधिक आकर्षण का अनुभव करते थे।

आज दुर्गाष्टमी है। शुक्रवार १८८५ ई०। सुबह के साढ़ेसात बजे हैं। मास्टर महाशय ठाकुर के पास उपस्थित हुए। मास्टर महाशय का साला द्विज भी उनके साथ आया है। द्विज लगभग पन्द्रह-सोलह साल का बालक है। वह बचपन से ही ईश्वर के प्रति अनुरागी है। ठाकुर उसे बहुत प्यार करते हैं।

आज जगन्माता का विशेष पूजन है। विशेष पूजन का भाव क्षण में ही श्रीरामकृष्ण का देह और मन में प्रकाशित हो रहा है। आपने अपने कठिन रोग की बात भुला दी है। वे क्षण-क्षण में भाव में मतवाले हो रहे हैं। मास्टर महाशय ने श्रीरामकृष्ण की देह में रोमांचित होना, कम्पन इत्यादि देखा। यह सब गंभीर भाव के पूर्व लक्षण हैं। धीरे-धीरे श्रीरामकृष्ण का भाव उतरने लगा। भक्त के भाव को स्वयं में आरोपित कर आपने देवेन्द्रनाथ मजुमदार को कहा, "संसार ब्रह्म में लीन होकर आनन्द मना रहा है—मैं ही पड़ा रह गया।" भाव की लहर ने मानो वहाँ उपस्थित सभी के मन को छू लिया। अब ठाकुर अपने सिर और पेट पर हाथ फेरने लगे। सम्पूर्ण रूप से भाव उतर जाने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, बापरे, डर रहा हूँ, कहीं वायु (घाव को) चोट न पहुँचा दें।"

ठाकुर के कमरे को सजाने के लिए कुछ देव-देवियों की तस्वीरें लायी गयीं। शायद ये चित्र शिकदार पाड़ा के प्रसिद्ध चित्रकार आनन्द प्रसाद बागची ने बनाये थे।[1] कालीपद घोष तस्वीरों को लाये हैं। ठाकुर ने खुश होकर इन चित्रों को देखा। आपने तीन चित्रों को मनोनीत किया—वे थे गौर-निताई, शिव गौर और द्रौपदीहरण के।

(१५)

आज रविवार विजया दशमी है, १८ अक्टूबर, १८८५ ई०। तीसरे पहर डाक्टर सरकार ठाकुर श्रीरामकृष्ण को देखने आये हैं। आज डाक्टर साहब का पुत्र अमृत भी आया है। श्रीरामकृष्ण ने अमृत के बारे में डाक्टर साहब से कहा, "तुम्हारा लड़का बड़ा अच्छा है और होगा भी क्यों नहीं? बम्बई आम के पेड़ में कभी खट्टे आम भी लगते हैं? ईश्वर पर इसका कैसा विश्वास है! ईश्वर में जिसका मन है, आदमी तो बस वही है। मनुष्य—और मन-होश—जिसमें होश है—चैतन्य है, जो निश्चयपूर्वक जानता है कि ईश्वर ही सत्य हैं और सब अनित्य, वही वास्तव में मनुष्य है। अवतार नहीं मानता, तो इसमें क्या दोष?"

डाक्टर साहब के ईश्वर सम्बन्धी विचारों को दृढ़ करने के लिए ठाकुर उनसे पूर्ण ज्ञान की बातें करते हैं। श्रीरामकृष्ण, "पूर्ण ज्ञान हो जाने के कुछ लक्षण हैं। उस समय विचार बन्द हो जाता है।"

तर्कशील डाक्टर सरकार पूछते हैं, "पूर्णज्ञान कहाँ मिलेगा। आप भी तो अब तक मौन व्रत कहाँ धारण किये हैं। तब आप बोलना अभी तक क्यों नहीं बन्द किये हुये हैं?"

श्रीरामकृष्ण (हँसते हुऐ), "पानी स्थिर रहने पर भी पानी ही रहता है और हिलता है तो भी पानी ही रहता है। तरंगों के उठने पर भी तो पानी ही बना रहता है।" ठाकुर ने महावत नारायण की कहानी को बताकर कहा, "वे ही पवित्र मन और पवित्र बुद्धि के रूप में हृदय में हैं। मैं यंत्र हूँ वे यंत्री है। मैं घर हूँ वे घरवाले हैं। वही महावत नारायण हैं।" डाक्टर साहब, "तब फिर महाराज, आप बारम्बार क्यों कहा करते हैं कि इस रोग को तो अच्छा कर दो।"[2]

श्रीरामकृष्ण, "जब तक यह 'मैं' पर का (अहंपन का) घड़ा तब तक यही हाल रहेगा। सोचो, एक महा समुद्र है, ऊपर नीचे जल से पूर्ण है। उसके भीतर एक घट है। घट के भीतर और बाहर पानी है, परन्तु उसे बिना फोड़े यथार्थ में

एकाकार नहीं होता। उन्होंने इस घट को रख छोड़ा है।"

ज्ञान के प्रकाश में तल्लीन होकर डाक्टर सरकार चले गये। आज विजया दशमी है। "विजया के उपलक्ष में सब भक्तों ने श्रीरामकृष्ण को साष्टांग प्रणाम करके उनके पैरों की धूल लेकर सिर से लगाया। फिर एक दूसरे को सप्रेम भेंटने लगे। आनन्द की मानो सीमा नहीं रही। श्रीरामकृष्ण को इतनी सख्त बीमारी है, परन्तु वे जैसे सब कुछ भूल गये हो। प्रेमालिंगन और मिष्टान्न भोजन बड़ी देर तक चल रहा है।...... श्रीरामकृष्ण आनन्द से बातचीत कर रहे हैं। डाक्टर के बारे में बातचीत होने लगी। श्रीरामकृष्ण—डाक्टर को और अधिक कहना न होगा। पेड़ का काटना जब समाप्त हो जाता है तब जो आदमी काटता है वह जरा हटकर खड़ा हो जाता है। कुछ देर बाद पेड़ आप ही गिर जाता है।[3]

डाक्टर सरकार और श्रीरामकृष्ण के वार्तालाप का एक सुन्दर चित्र लीला प्रसंग में मिलता है, "अपने मूल्यवान समय का इतना अधिक अंश यहाँ बिताने के कारण, श्रीरामकृष्णदेव द्वारा एक दिन उन्हें कृतज्ञता जताने का उपक्रम करते ही, उन्होंने उन्हें रोक कर कहा, 'अजी, क्या तुम समझते हो कि मैं तुम्हारे लिए ही यहाँ आकर इतना अधिक समय बिता रहा हूँ? इसमें मेरा भी स्वार्थ है। तुम्हारे साथ वार्तालाप करने में मुझे विशेष आनन्द मिलता है। इससे पहले तुमसे मुलाकात होने पर भी ऐसे घनिष्ठ भाव से तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हें जानने का अवसर नहीं मिला था। उस समय यह करूँ, उसे देखूँ, इस ढंग से काम में ही लगा रहता था। जानते हो, सत्य के प्रति तुममें अनुराग है, इसी कारण तुम मुझे अच्छे लगते हो। तुम जिसे सत्य समझते हो, उससे रत्ती भर भी इधर-उधर चल-बोल नहीं सकते। दूसरे स्थानों में दिखाई पड़ता है कि लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। उसे मैं बिल्कुल बरदास्त नहीं कर सकता। ऐसा न समझो कि मैं तुम्हारी खुशामद कर रहा हूँ, मैं ऐसा गँवार नहीं हूँ, आपका कुपुत्र हूँ। बाप अन्याय करे तो उन्हें भी स्पष्ट बात कहने में मैं नहीं चूकता। इस कारण मेरा नाम 'दुर्मुख' है।

श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, "हाँ ऐसा सुना है सही, परन्तु यहाँ तुम इतने दिनों से आ रहे हो मुझे तो उसका कुछ भी परिचय नहीं मिला?"

डाक्टर साहब ने हँसते हुए कहा, "यह हम दोनों के लिए ही सौभाग्य की बात है। नहीं तो कुछ भी अनुचित प्रतीत होता तो महेन्द्र सरकार चुप न रहता। सत्य के प्रति मेरा अनुराग नहीं है, ऐसा न सोचो। सत्य रूप से जिसे मैंने समझ लिया है उसकी स्थापना करने के लिए ही जीवन भर दौड़ धूप कर रहा हूँ। इस कारण होम्योपैथी चिकित्सा आरम्भ किया है और इस कारण ही विज्ञान चर्चा के लिए मन्दिर निमार्ण कर रहा हूँ, इसी तरह मेरे सभी कार्य है।"

जहाँ तक याद है हममें से किसी ने इशारे से बतलाया था कि सत्यानुराग रहने पर भी डाक्टर साहब का अनुराग अपरा विद्या के अन्तर्गत आपेक्षिक सत्य के आविष्कार की ओर अधिक है, परन्तु श्रीरामकृष्ण का प्रेम निरन्तर परा विद्या की ओर है।

"डाक्टर साहब ने इस कटाव से उत्तेजित होकर कहा, "तुम लोगों की ऐसी आदत ही पड़ गयी है, विद्या का परा और अपरा क्या है? जिससे सत्य का प्रकाश हो, वह छोटा क्या और बड़ा क्या? और यदि ऐसा मनः कल्पित विभाजन करते हो तो इसे स्वीकार करना ही होगा कि अपरा विद्या के भीतर से ही परा विद्या प्राप्त करनी पड़ती है। विज्ञान की चर्चा से हम जिस सत्य को प्रत्यक्ष करते हैं, उसी से जगत् के आदिकारण या ईश्वर को और भी विशेष रूप से समझ सकते हैं। मैं नास्तिक वैज्ञानिकों की बात नहीं करता। उनकी बातें मैं

नहीं समझ सकता — आँखें रहते हुए भी वे अन्धे है। परन्तु कोई ऐसी बात भी कह दे कि वह अनादि अनन्त ईश्वर का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सका है तो उसे मैं झूठा और धोखेबाज मानता हूँ। उसके लिए पागल खाने का प्रबन्ध होना चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण ने डाक्टर की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए हँसकर कहा, "ठीक कहा तुमने। ईश्वर का 'इति' जो लोग करते हैं, वे अत्यन्त ही बुद्धिहीन हैं, उनकी बात मैं सहन नहीं कर सकता हूँ।"

इतना कह कर श्रीरामकृष्ण हममें से एक व्यक्ति को भक्त राम प्रसाद का भजन --'के जाने मन काली के मन, षडदर्शन ना पाये दरशन'—(कौन जाने काली कैसी है, हमारे दर्शन उनका दर्शन नहीं पाते) गाने के लिए कहा और गाना सुनते हुए उसका भावार्थ धीमे स्वर में डाक्टर को बीच-बीच में समझाने लगे। "आमार प्राण बुझेछे मन बूझे ना, धरवे राशि हमें वामन" संगीत के इस अंश को गाते समय श्रीरामकृष्ण ने गायक को रोक कर कहा। "अजी उलट-पलट हो रहा है, वैसा नहीं, आमार मन बुझे छे प्राण बुझे ना" ऐसा होगा। मन उन ईश्वर को जानने की चेष्टा करते ही समझ जाता है कि अनादि अनन्त ईश्वर को समझना उसके सामर्थ्य के बाहर है, किन्तु हृदय उस बात को समझना नहीं चाहता वह केवल कहता है—कैसे मैं उन्हें पाऊँगा।"

"डॉक्टर ने इस बात को सुनते ही मुग्ध होकर कहा, ठीक कहा है। पाजी मन बहुत नीच है, थोड़े में ही कह बैठता है कि मैं नहीं कर सकूँगा, ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु हृदय उससे सहमत नहीं होता, इसी कारण अनेक प्रकार के सत्य तत्वों का आविष्कार हुआ और हो रहा है।"

"गाना सुनते-सुनते भावावेश से दो-एक युवक-भक्तों की बाह्य चेतना का लोप होते देखकर डॉक्टर उनके पास गये और नाड़ी की परीक्षा करते हुए उन्होंने कहा "मालूम तो यही होता है कि मूर्छित की तरह बाह्य ज्ञान नहीं है।"' वक्ष स्थल पर हाथ फेरते हुए भगवान का नाम धीमे स्वर में सुनने के बाद उन्हें पहले की तरह प्रकृतिस्थ होते देखकर डॉक्टर ने श्रीरामकृष्णदेव से कहा, "ऐसा लगता है कि यह तुम्हारा ही खेल है।" श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा। अजी यह मेरा खेल नहीं है, यह उन्हीं (ईश्वर) की इच्छा से होता है। इनका मन अभी पत्नी, पुत्र, रुपया, पैसा, मान, यश आदि में नहीं लगा है, इसी कारण भगवान का नाम सुनते ही इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं।

"पूर्व प्रसंग उठाकर फिर डॉक्टर से कहा गया कि उनके ईश्वर को मानने पर भी तथा उसकी इति न करने पर भी जो लोग विज्ञान चर्चा में लगे हुए हैं, उनमें से एक दल तो ईश्वर को एकदम उड़ा ही देता है और दूसरा दल ईश्वर का अस्तित्व मानने पर भी केवल इसी बात का ऊँचे स्वर से प्रचार करता है कि ईश्वर अमुक प्रकार के अतिरिक्त अन्य प्रकार हो नहीं सकते या कर नहीं सकते। डॉक्टर ने कहा। "हाँ जी, यह बात बहुत सही है, परन्तु वह क्या है जानते हो, वह है विद्या की गर्मी या बदहजमी। ईश्वर की सृष्टि के दो-चार विषयों को वे समझ सके हैं इसलिए वे समझते हैं कि दुनिया का सारा रहस्य ही वे जान गये हैं। जो लोग अधिक पढ़े-लिखे हैं, उनमें दोष प्रायः नहीं रहता। मैं तो ऐसी बात कभी मन में ला ही नहीं सकता।

श्रीरामकृष्ण ने उनकी बातें सुनकर कहा, ठीक कहा, विद्या लाभ के साथ-साथ "मैं पण्डित हूँ, मैंने जो कुछ जाना और समझा है वही सत्य है, दूसरे की बात मिथ्या है—इस प्रकार अहंकार आ जाता है। मनुष्य अनेक पाशों से आबद्ध है। विद्याभिमान उन्हीं में से एक है, इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हारे भीतर वैसा अहंकार नहीं है, यह उनकी कृपा है।"

'डॉक्टर ने इस बात से उत्तेजित होकर कहा, "अहंकार होना तो दूर की बात मालूम होती है

कि जो कुछ मैंने जाना और समझा है, वह बहुत ही तुच्छ है—सीखने योग्य इतने अधिक विषय पड़े हैं कि मुझे लगता है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसे अनेक विषय जानता है जो मैं नहीं जानता। इसीलिये किसी से कुछ सीखने में मुझे अपमान नहीं मालूम पड़ता। ऐसा लगता है इनके (श्रीरामकृष्णदेव को दिखाकर) पास से मुझे सीखने योग्य अनेक विषय मिल सकते हैं इस विचार से मैं सबके पैर की धूल लेने को तैयार हूँ।"

"श्रीरामकृष्णदेव ने सुनकर कहा, "मैं भी इनसे कहता हूँ (हमलोगों को दिखाकर) "सखी जतो दिन बाँचि ततो दिन सिखि" (सखी जितने दिनों तक जीऊँ उतने दिनों तक सीखूं) उसके अनन्तर डॉक्टर को दिखाकर हमलोगों से कहा—"देखो कैसा अभिमान रहित है, भीतर सार है न, तभी ऐसी बुद्धि है।"

इस प्रकार के विविध वार्तालाप के उपरान्त डॉक्टर विदा लेकर चले गये।

---

(१) आज का दिन १५ अक्टूबर है, श्रीरामकृष्ण २ अक्टूबर को श्यामपुकुर में आये थे।

(२) गृहस्थ भक्तों में प्रमुख रामचन्द्र दत्त अक्सर ही अपने घर से जल्दी ही भोजन कर श्यामपुकुर के मकान में आ जाते थे। वहाँ दो एक घन्टा बिताकर दफ्तर चले जाते थे। अन्यान्य गृहस्थ भक्तों में से कुछ लोग रोज ही नियम पूर्वक श्यामपुकुर के मकान में आते थे।

(३) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग प्रथम खण्ड दूसरा संस्करण, पृष्ठ २५७।

(४) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २५७-२५८।

(५) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, भाग दूसरा, पृष्ठ २७।

(६) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २५९-६०।

(७) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, भाग दूसरा, पृष्ठ २७।

(८) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २५९-६०।

(९) कथामृत के अनुसार वह घटना १७ अक्टूबर, नवमी के दिन घटी थी। स्वामी सारदानन्द, स्वामी अभेदानन्द और वैकुण्ठनाथ सान्याल के अनुसार यह घटी थी महाअष्टमी के दिन संधि पूजन के समय। उस बार १६ अक्टूबर को महाष्टमी थी। अक्षय कुमार सेन से इस घटना को सप्तमी के दिन बताया है। मास्टर महाशय की डायरी के पृष्ठ ६०० के अनुसार इस दर्शन का समय सप्तमी (१५ अक्टूबर) रात के साढ़े सात बजे का था।

(१०) श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग तीसरा, पृष्ठ ३०७।

(११) आमार जीवन कथा (बंगला) पृष्ठ ७६-७।

(१२) श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २६०।

(१३) २७ अक्टूबर १८८५ ई० को अन्नदा प्रसाद बागची श्यामपुकुर वाले मकान में आये थे। यहाँ उन्होंने ठाकुर को अपनी कुछ तसवीरें उपहार में दी थी। वह भुजा मूर्ति के चित्र को देखकर ठाकुर ने बागची के चित्रकारी की प्रशंसा की थी।

(१४) श्रीरामकृष्ण वचनामृत, तीसरा खण्ड, पृष्ठ ३११
श्रीरामकृष्ण अमृत को देखना चाह रहे थे। अमृत के आते ही ठाकुर उसके हाथ को पकड़कर उसे पास वाले कमरे में ले गये और कहा "बेटा, मैं तुम्हारे लिए यहाँ आया हूँ।" ठाकुर ने अमृत को कुछ उपदेश भी दिये। जीवन वृतान्त, पृष्ठ १६६।

(१५) श्रीरामकृष्ण वचनामृत, तीसरा खण्ड, पृष्ठ ३१४।

(१६) श्रीरामकृष्ण वचनामृत, तीसरा खण्ड, पृष्ठ ३१९-२०।

(१७) श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २३६-२४०।

संघं शरणं गच्छामि

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

बुद्ध पूर्णिमा "त्रिधन्य" दिवस के रूप में विख्यात है। तीन प्रकार से धन्य यह दिवस इसलिए है कि इसी दिन भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था, इसी दिन उन्होंने बोधि या ज्ञान प्राप्त किया था तथा इसी दिन उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का महापरिनिर्वाण में त्याग किया था। भगवान बुद्ध के माध्यम से मानव जाति तीन अमूल्य वस्तुओं को पाकर भी धन्य हुई है। वे हैं; भगवान बुद्ध का आदर्श एवं मानवता के लिए अनुकरणीय महान चरित्रवान व्यक्तित्व, बौद्ध धर्म तथा बौद्ध धर्म संघ। इन तीनों ने समग्र मानव जाति को ढाई हजार वर्षों तक प्रभावित किया है, और अभी भी कर रहे हैं। भगवान बुद्ध की जीवनी तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म के बारे में अधिकांश लोग जानते हैं। लेकिन उनके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म संघ के बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। धर्म संघ की साधना तथा विस्तार की रोचक गाथा बुद्ध धर्म के मुख्य ग्रन्थों, विशेषकर विनय पिटक में विस्तार से पायी जाती है, तथा उसका अध्ययन समाज में सक्रिय धर्म के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है। प्रस्तुत लेख में बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित भिक्खु संघ की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

कठोर तपस्या के बाद बोध गया में बोधि वृक्ष के नीचे बैठे भगभान बुद्ध को निर्वाण या ज्ञान की प्राप्ति हुई। उस मुक्तावस्था के परमानन्द का आस्वादन वे सात दिन तक उसी स्थिति में बैठे-बैठे लेते रहे। उसके बाद तपस्सु व भाल्लिक नामक दो व्यापारी उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके शिष्य बने। बुद्ध के सामने सविनय नतमस्तक हो उन्होंने कहा : बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि। "मैं बुद्ध की तथा धर्म की शरण लेता हूँ। ये दो बुद्ध के प्रथम गृहस्थ शिष्य हुए। लेकिन बुद्ध ने उन्हें किसी प्रकार का उपदेश नहीं दिया।

इसी समय बुद्ध ने यह विचार किया कि मैंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया है वह गूढ़ एवं सामान्य लोगों की बुद्धि के द्वारा दुःगम्य है। जिस अमरत्व को विशुद्ध आत्मा प्राप्त करते हैं, उसे अज्ञानी जन विनाश समझेंगे। जो जिनके लिए चिरजीवन है, उसे लोग मृत्यु समझते हैं, तथागत के परमानन्द को वे सर्वस्व का त्याग मानेंगे। वासना, राग व द्वेष से बंधे लोगों के लिए सत्य सदा आवरित रहता है। अतः ऐसे अनधिकारी लोगों को उपदेश देने से मुझे ही श्रम होगा—उन्हें कोई लाभ नहीं होगा।"

इसी समय ब्रह्मा प्रजापति स्वर्ग से उतरकर बुद्ध के पास आये और वन्दना करने के बाद बोले—"अगर तथागत धर्मोपदेश न देंगे तो विश्व का विनाश हो जायेगा। दुःखी जनों पर करुणा कीजिए, जो संघर्षरत हैं, उन पर कृपा कीजिए, संसार में फंसे जीवों पर दया करके धर्मोपदेश दीजिए। कुछ ऐसे जीव हैं, जो प्रारंभ से ही पवित्रात्मा हैं। अगर उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तो वे नष्ट हो जायेंगे, अगर प्राप्त हुआ तो मुक्त हो जायेंगे।"

भगवान बुद्ध ने संसार के प्राणियों को करुण-दृष्टि से देखा। उनमें उन्होंने ऐसे कुछ लोगों को देखा जिनका मन सांसारिकता के कलुष से बहुत कम आवरित हुआ था तथा जो शुभ एवं उपदेश

ग्रहण में समर्थ थे। कुछ लोग पाप व वासना के दुष्परिणामों के प्रति सजग थे। अतः तथागत ने उन लोगों को उपदेश देकर अमरत्व के द्वार को खोल देने का निश्चय किया।

अपना प्रथम धर्मोपदेश देने के लिए भगवान बुद्ध वाराणसी के सारनाथ में आये। उनके पाँच तपस्वी मित्र वहीं रहा करते थे। उन पांच भिक्षुओं ने बुद्ध को अपनी ओर आते देख निश्चय किया कि वे उनकी उपेक्षा करेंगे क्योंकि वे तपस्या के मार्ग से च्युत हो गये हैं। लेकिन तथागत के आत्म-तेज से अभिभूत हो वे उनके शिष्य बन गये। बुद्ध ने उन्हें शारीरिक कष्ट कर तपस्या की अति तथा अत्यधिक इन्द्रियभोग की दूसरी अति को त्याग कर मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। जिस धर्म चक्र का उन्होंने प्रवर्तन किया उसके आरे शुद्धाचरण के नियम हैं। न्याय उनकी समान लम्बाई है। ज्ञान उस चक्र पर चढ़ा लौहवलय या हाल है। विनय और विचारशीलता उस चक्र की नाभि है, जिसमें सत्य की दृढ़ धुरी लगी हुई है।

इसके बाद बुद्ध ने दुःख, दुःख का कारण, दुःख निर्वृति, तथा दुःख निवृत्ति का उपाय—इन चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। अष्टांग सम्यक् मार्ग ही दुःख निवृत्ति का उपाय है।

इन पांच भिक्खुओं से ही बुद्ध के धर्म संघ की स्थापना हुई। बुद्ध ने उन्हें एक साथ संघबद्ध रूप से रहने की सलाह देते हुए कहा कि अकेला रहने वाला साधु पथभ्रष्ट हो सकता है, अतः साथ रहो तथा एक-दूसरे की सहायता करो। भाई की तरह एक उद्देश्य, सत्य के लिए समान उत्साह और समान प्रेम व पवित्रता से युक्त रहो। सत्य की सभी दिशाओं में सभी के कल्याण के लिए प्रचार करो। इस संघ के माध्यम से बुद्ध की शरण में आये सभी के बीच में सम्वन्ध स्थापित होगा।

इसके बाद इन भिक्षुओं ने "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।" मंत्रों का उच्चारण बुद्ध के सामने कर संघ में विधिवत् प्रवेश किया।

इसी समय संसार की ज्वाला से संतप्त यश नामक युवक ने भगवान बुद्ध के धर्म को स्वीकार कर संघ में योगदान दिया। उसके पिता गृहस्थ शिष्य बने तथा उसकी माता तथा पत्नी भगवान बुद्ध की प्रथम महिला गृहस्थ शिष्या बनीं। यश के चार घनिष्ठ मित्र भी संघ में प्रविष्ट हो गये। इस तरह भिक्षु संघ तेजी से वर्धित होने लगा। सर्वप्रथम तो भगवान बुद्ध स्वयं धर्मोपदेश देते थे, तथा संघ-दीक्षा प्रदान करते थे। लेकिन जैसे-जैसे संघ के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी, यह कार्य उन्होंने दूसरे भिक्खुओं को भी करने का आदेश व अधिकार प्रदान किया। उन्होंने भिक्षुओं को "बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय" देश देशान्तर में गमन करते हुए धर्म और विनय का प्रचार करने का आदेश दिया। तब से भिक्षुगण वर्षा के चार माह को छोड़ अन्य समय भ्रमण करते, तथा धर्म का प्रचार करते। चातुर्मास के समय वे भगवान बुद्ध के निकट सम्मिलित होकर उनसे उपदेश सुनते।

(2)

संघ का विकास

विनय-पिटक के अध्ययन से स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं कि भगवान बुद्ध के मन में संघ के स्वरूप, विस्तार आदि के विषय में प्रारंभ से ही कोई निश्चित धारणा नहीं थी। जैसे-जैसे समस्याएँ पैदा होती गयीं, वैसे-वैसे वे निर्देश देते गये तथा भिक्षुओं के आचार-व्यवहार के नियम बनाते गये। संघ के विस्तार एवं स्वरूप को जिन दो बातों ने सबसे अधिक प्रभावित किया वे थीं (1) भगवान बुद्ध के गृहस्थ अनुयायियों का भिक्षुसंघ के प्रति योगदान, (2) भिक्षुओं के सामूहिक जीवन से उत्पन्न दैनन्दिन समस्याएँ एवं बुद्ध द्वारा सुझाये गये उनके समाधान।

(1) **गृहस्थ अनुयायियों का योगदान**—भगवान बुद्ध के स्तर के लोकोत्तर महापुरुष केवल सर्वत्यागी संन्यासियों के कल्याण के लिए ही इस धराधाम में अवतरित नहीं होते। वे समग्र जन साधारण के उद्धार के लिए आते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर बुद्ध ने अपने गृहस्थ भक्तों के लिए भी कुछ निर्देश दिये थे, जिनमें भिक्षुओं तथा भिक्षु-संघ की सेवा एक महत्त्वपूर्ण उपदेश था। गृहस्थों के लिए सत्पात्र को दिया गया दान अत्यन्त शुभ एवं कल्याणकारी होता है। यह जानकर उन्होंने एक ओर तो अपने सद्गृहस्थ शिष्यों को दान के लिए प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर भिक्षुओं को इस प्रकार के दान से प्राप्त वस्तुओं को स्वीकार कर गृहस्थों की भावनाओं का आदर करने की अनुमति प्रदान की।

बुद्ध के गृहस्थ अनुयायियों में मगध के सम्राट विम्बिसार अन्यतम थे। बुद्ध धर्म को स्वीकार करने के बाद उन्होंने एक बार बुद्ध तथा उनके शिष्य भिक्षुओं को भिक्षा के लिए आमंत्रित किया। भिक्षुओं के भोजन के बाद उन्होंने वेनुवन नामक अपने एक आमोद-वन को बुद्ध संघ को समर्पित किया, जिससे भिक्षु बिना किसी अड़चन के एकांत में जन समाज से न तो बहुत दूर और न ही बहुत निकट शान्ति से रह सकें। भिक्षुओं को भिक्षा प्राप्ति के लिए अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा, और जन साधारण भी भिक्षुओं के सत्संग का लाभ उठा सकेगा। सम्राट विम्बिसार की आन्तरिक शुभ भावना तथा वेनुवन को संघ का निवास बनाने म निहित व्यावहारिक उपयोगिता को देखते हुए भगवान बुद्ध ने उसे संघ के लिए स्वीकार कर लिया।

इसी तरह अनाथ पिण्डक नामक एक उदार प्रकृति धनाढ्य व्यक्ति ने भी भिक्षु संघ को एक विहार अथवा निवास स्थान की भेंट प्रदान की। वह अनाथों एवं गरीबों के मित्र के रूप में जाना जाता था। भगवान बुद्ध की ख्याति सुनकर वह उनके दर्शनों के लिए आया तथा बुद्ध से उसने अपने कल्याण का मार्ग पूछा। पात्र के अनुरूप उपदेश देते हुए बुद्ध ने उसे दान की महिमा बतायी तथा कहा कि दया एवं करुणा से प्रेरित दान द्वारा अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है।

तदनन्तर अनाथ पिण्डक ने भिक्षुओं के विहार के लिए घने वृक्षों से पूर्ण एक उपवन देखा जो किसी युवराज की सम्पत्ति था। अनाथ पिण्डक ने उसे क्रय करके बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त को दान किया। उस पर बुद्ध के निर्देशानुसार एक सुन्दर भवन का निर्माण किया गया। यह स्थान जेलवन विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जीवक एक राज-वैद्य थे, तथा एक बार उन्होंने भगवान बुद्ध की चिकित्सा की थी, उसके बाद उज्जयनी के राजा प्रद्योत की चिकित्सा करते समय उन्हें राजा की ओर से एक अत्यन्त मूल्यवान वस्त्र भेंट स्वरूप प्राप्त हुआ। जीवक ने विचार किया किया कि भगनान बुद्ध ही इस अति उत्तम वस्त्र को धारण करने योग्य हैं। यह सोचकर अत्यन्त विनम्रता के साथ बुद्ध से एक वरदान की याचना की। बुद्ध के पूछने पर उन्होंने वह वस्त्र देते हुए उनसे उसे स्वीकार करने का निवेदन किया तथा भिक्षुओं को भी गृहस्थों द्वारा दिये गये वस्त्र पहनने की अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया। बुद्ध ने जीवन की भावना का आदर करते हुए वस्त्र स्वयं स्वीकार किया तथा भिक्षुओं को भी इसकी अनुमति प्रदान की। इसके पहले तक भिक्षु केवल कन्था—अर्थात् कूड़े-कचरे में पड़े वस्त्रों के टुकड़ों को सीकर बनाये गये कपड़े ही पहनते थे। बुद्ध ने दोनों प्रकार के वस्त्रों की अनुमति दी—जो भिक्षु जैसा चाहे वस्त्र पहने। जब लोगों ने सुना कि भगवान ने भिक्षुओं को प्रदत्त-वस्त्र पहनने की अनुमति प्रदान कर दी है, तो बहुत से लोग वस्त्र ले लेकर आने लगे, तथा एक ही दिन में कई हजार वस्त्र राजगृह में भिक्षुओं को भेंट स्वरूप प्राप्त हुए।

भगवान बुद्ध की गृहस्थ महिला भक्तों की

अग्रणी थी विशाखा। उसने पूर्वाराम नामक एक स्थान बुद्ध संघ को भेंट में समर्पित किया था।

एक दिन उसने भगवान बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन कर चुकने के बाद उसने भगवान बुद्ध से आठ वरदान मांगे। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न समस्याओं को ध्यान में रखते हुए विशाखा ने ये वरदान मांगे थे, जिनके औचित्य को देखते हुए भगवान बुद्ध ने उनको स्वीकार कर लिया। विशाखा ने भिक्षुओं की निम्न आठ आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन पर्यन्त स्वयं करने का वरदान मांगा था :

(१) वर्षाकाल में भिक्षुओं को विशेष वस्त्र प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि एकमात्र वस्त्र के गीला हो जाने से भिक्षुओं को उसके सूखने तक विवस्त्र रहना पड़ता था।

(२) नवागत भिक्षुओं को भोजन प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि नवागत भिक्षु मार्गादि से अनभिज्ञ रहने के कारण नहीं जानता कि वह कहाँ भिक्षा प्राप्त कर सकेगा तथा वह मार्ग-श्रम से क्लान्त भी रहता है।

(३) बहिर्गमनकारी भिक्षु के लिए भोजन की अनुमति क्योंकि उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में देर हो सकती है।

(४) रुग्ण भिक्षु को पथ्य प्रदान करने की अनुमति क्योंकि पथ्य के अभाव में उसका रोग बढ़ सकता है।

(५) रुग्ण भिक्षु की परिचर्या में नियुक्त भिक्षु को भोजन देने की अनुमति क्योंकि वह अपने कार्य में रत रहने से भिक्षाटन के लिए संभवतः न जा सके।

(६) रुग्ण भिक्षु के लिए औषधि की व्यवस्था करने की अनुमति।

(७) भिक्षु संघ को पायस खीर प्रदान करने की अनुमति क्योंकि भगवान बुद्ध ने खीर को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया था।

(८) भिक्षुणियों को स्नान के समय पहनने के वस्त्र प्रदान करने की अनुमति जिससे उन्हें निर्वस्त्र होकर स्नान न करना पड़े।

विशाखा की उदारता, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता से अत्यन्त प्रभावित हो भगवान बुद्ध ने उनकी ये सारी बातें स्वीकार कर लीं, तथा विशाखा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भिक्षु संघ की दैनन्दिन समस्याएँ और समाधान—

भगवान बुद्ध के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रवर्तन से पूर्व कठोर तपस्या को मुख्य साधना माना जाता था। अतः साधक सभी प्रकार की शारीरिक सुविधाओं का त्याग कर, शरीर को कष्ट देने वाली कृच्छ्र साधनाएँ किया करते थे। लेकिन बुद्ध ने उस काल के दिगम्बर कृच्छ्र साधकों को अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने अपने शिष्यों को "कन्था" धारण करने का आदेश दिया था जिसकी चर्चा की जा चुकी है। भिक्षुओं के लिए भिक्षान्न से उदर पूरण, कन्था से देह को ढकना, वृक्षों के नीचे निवास तथा राख अथवा गोमूत्र से स्वयं की चिकित्सा—ये चार विधान थे। वे जूते चप्पल नहीं पहनते थे। तथा भवनों में निवास नहीं करते थे। एक बार एक भिक्षु के पैरों में नंगे पांव चलने से घाव हो गया। यह देखकर बुद्ध ने पदत्राण का उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। अब पदत्राण भी कई प्रकार के हो सकते हैं—जूते, चप्पल, कपड़े के, चमड़े के, अथवा लकड़ी के बने हुए। भिन्न-भिन्न साधु भिन्न-भिन्न प्रकार के जूते चप्पलों का व्यवहार करने लगे—जिससे नयी नयी समस्याएँ उठने लगीं। बुद्ध को एक के बाद एक नये-नये नियम बनाने पड़े।

भिक्षुओं को रोग भी होते थे। बुद्ध ने उनके निवारणार्थ औषधियों का सेवन, मरहम आदि के लगाने की अनुमति प्रदान की। कई भिक्षु जब एक साथ रहते थे तो उनके लघुशंका शौचादि से दुर्गन्ध फैलती थी।—अतः कहाँ शौचादि किया जाय, इत्यादि के भी नियम बने। जब भिक्षु गण भवनों और विहारों में रहने लगे तो आगन्तुक भक्त के आने का समय उनसे मिलने आदि के नियम आदि भी बनाने पड़े। इस तरह से प्रतिदिन की छोटी छोटी समस्याओं के कारण असंख्य नियमों एवं उपनियमों का निर्माण स्वयं बुद्ध के समय, उन्हीं की अनुमति से हुआ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भिक्षु सारे वर्ष पर्यटन करते रहते थे और वर्षा के चार महीनों में वे विहारों में निवास करते थे। कभी-कभी गृहस्थ भक्तों के आग्रह पर तथा बुद्ध की अनुमति से वे-चातुर्मास के अतिरिक्त भी विहारों में रह जाते थे। सम्राट विम्बिसार के अनुरोध पर बुद्ध ने गृहस्थों के कल्याण के लिए यह नियम बनाया कि प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा व अमावस्या के दिन चाहे वे विहार में हों या बाहर, निकटवर्ती विहार में सम्मिलित होवें। इस रस्म को उपवसथा कहा जाता था। इस दिन गृहस्थ भक्त भी उपदेश सुनने की आशा से विहार में एकत्र होते थे। इस दिन पातिमोक्ख या प्रतिमोक्ष नामक एक रस्म होती थी। प्रतिमोक्ष का अर्थ है, अपने अनुचित कर्मों की स्वीकारोक्ति तथा उनके प्रायश्चित द्वारा उनसे मुक्ति। क्योंकि कोई भी गलती, छोटी या बड़ी, यदि स्वीकार कर ली जाय तो उससे उसका बोझ हल्का हो जाता है। बुद्ध ने प्रतिमोक्ष की पद्धति का भी निर्देश कर दिया। एक आदरणीय वरिष्ठ भिक्षु सर्व प्रथम समस्त सम्मिलित भिक्षुओं को सम्बोधित करके उन्हें सुनने के लिए सावधान करे। उसके बाद वह विभिन्न श्रेणियों के दोषों एवं अनुचित कार्य जो भिक्षु द्वारा सम्भव है, एक के बाद एक बोलता जावे, प्रत्येक श्रेणी की घोषणा के बाद वह तीन बार पूछे कि किसी से दोष हुआ है कि नहीं। जिससे यह दोष हुआ है, वह उठकर सबके सामने उसे स्वीकार करे। यदि न हुआ हो तो शान्त रहे।

भिक्षुओं द्वारा कृत पापों अथवा अनुचित कार्यों की उनकी गुरुता के अनुसार श्रेणियों में विभक्त किया गया था। गुरुतम पापों के दण्ड-स्वरूप भिक्षु को भिक्षु जीवन का त्याग, एवं संघ से निष्कासित किया जाता था। अन्य दडों में वरिष्ठता में कमी आदि करे। कुछ छोटे मोटे दोषों का प्रक्षालन तो केवल उनको स्वीकार करने से ही हो जाता था।

संघ में मतभेद व विभाजन—

धर्म संघों में विभाजन की घटनाएं प्रायः देखी जाती हैं। भगवान बुद्ध की जीवद्दशा में ही इस प्रकार की एक घटना हुई थी, जिसका वृतान्त अत्यन्त शिक्षाप्रद है। बुद्ध की अनुपस्थिति में एक भिक्षु पर किसी अनुचित कार्य का आरोप लगाया गया। किन्तु उस भिक्षु द्वारा उसे अस्वीकार करने के कारण अन्य भिक्षुओं ने उसको संघ से निष्कासित करने का दण्ड दिया।

लेकिन जिसे दण्ड दिया गया था, वह भिक्षु बुद्धिमान, अनुशासित, विनम्र, धैर्यनिष्ठ एवं शास्त्रवेत्ता था। उसने अपने मित्रों से कहा कि मैंने जो कुछ किया है वह अधर्म या अनुचित व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आता। अतः मैं दोषी नहीं हूं। अतः मैं निष्कासित नहीं किया जा सकता। इस तरह उस भिक्षु का पक्ष लेने वाला एक वर्ग हो गया और संघ के दो भाग हो गये। अब यह बात भगवान बुद्ध को ज्ञात हुई तो वे उन भिक्षुओं के पास गये जिन्होंने अभियोग लगाया था, और कहा "भिक्षुओं किसी बुद्धिमान, शास्त्रविद् और विनयी भिक्षु के विरुद्ध तुम मनमाना अभियोग केवल यह कहकर नहीं लगा सकते कि हम ऐसा समझते हैं।

वह अपना दोष समझने तथा स्वीकार करने में असमर्थ है, केवल इसीलिए उसे संघ से निष्कासित करने से संघ के विभाजन का भय है।" इसके बाद बुद्ध निष्कासित भिक्षु का पक्ष लेने वाले भिक्षुओं के पास जाकर बोले, "भिक्षुओं, अगर किसी ने अपराध किया है, तो उसे यह कहकर नकारा नहीं जा सकता कि यह अपराध नहीं है। उस भिक्षु को यह सोचना चाहिए कि जिन्होंने दोषारोपण किया है, वे बुद्धिमान हैं, शास्त्रवेत्ता हैं, निष्पक्ष हैं, वे मेरे विषय में इस प्रकार द्वेषपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे। उस भिक्षु को संघ के विभाजन के भय से अपने अन्य भिक्षु बन्धुओं के आदेश को स्वीकार कर अपना दोष स्वीकार करना चाहिए।"

दोनों पक्षों को इस प्रकार समझाने के बाद भी जब दोनों पक्ष अपनी-अपनी उपवसथा तथा पातिमोक्ख की रस्में अलग-अलग करते रहे, तो बुद्ध ने दोनों को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि दोनों वर्गों में समझदार-वयस्क एवं आदरणीय भिक्षु हैं। यही नहीं उन्होंने अपने गृहस्थ भक्तों को भी यह निर्देश दिया कि वे दोनों समुदायों के भिक्षुओं को अन्न-वस्त्र की भिक्षा प्रदान करते रहें। बुद्ध स्वयं इस मतभेद से दुःखी हुए तथा बार-बार विनम्रतापूर्वक एक साथ रहने को समझाते रहे। अन्त में वे वहाँ से चले गये। उनके जाने के बाद दोनों वर्गों में झगड़े और बढ़ गये जिसके कारण गृहस्थ समुदाय की आस्था एवं विश्वास भी उनके प्रति नहीं रहे। वे कहने लगे कि इन भिक्षुओं का आचरण भिक्षुओं जैसा नहीं है, इन्हें तो अपना काषाय वस्त्र त्याग कर गृहस्थ बन जाना चाहिए। अन्त में दोनों वर्ग के भिक्षु बाध्य होकर बुद्ध की शरण में आये। भगवान बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को सम्मिलित कर एक प्रवचन दिया। जिसमें उन्होंने दो शत्रुओं को एक कथा सुनायी। उन्होंने यह बताया कि दोनों की शत्रुता का अन्त वैर व द्वेष त्याग द्वारा हुआ था। हिंसा से हिंसा पर, वैर से वैर पर कभी विजय नहीं पायी जा सकती। प्रेम और वैरत्याग से ही वैर का नाश किया जा सकता है। भगवान बुद्ध के सामयिक उपदेश से संघ में पुनः एकता स्थापित हुई।

संघ रूपी सागर के आठ लक्षण :

बुद्ध के अनुसार एक संन्यासी संघ एक विशाल सागर के सदृश है। समुद्र के आठ लक्षण हैं, जो एक संन्यासी संघ में भी पाये जाते हैं।

सागर की निम्न आठ विशेषताएँ हैं :—

(१) सागर क्रमशः गहरा होता जाता है।

(२) वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता।

(३) अगर किसी प्राणी की मृत देह समुद्र में डाली जाय तो समुद्र उसे किनारे पर फेंक देता है।

(४) समुद्र में मिलने के बाद सभी नदियाँ अपने नाम रूप को भुलाकर समुद्र के नाम से ही जानी जाती हैं।

(५) नदियों से निरन्तर जल प्राप्त करने अथवा सूर्य के तेज से जल के वाष्प बनकर निकल जाने पर भी समुद्र न तो खाली होता है, और न बढ़ता है।

(६) समुद्र के जल का सर्वत्र एक ही, खारा, स्वाद होता है।

(७) समुद्र रत्नों, मणियों, मोतियों का भंडार है।

(८) समुद्र में तिमिंगिल, मगरमच्छ आदि बड़े-बड़े जन्तु निवास करते हैं।

इसी तरह संन्यासी संघ की भी आठ विशेषताएँ हैं :—

(१) संघ में प्रवेश करने वाले संन्यासियों का भी क्रमिक विकास होता है, धीरे-धीरे उनके जीवन में गहराई आती है।

(२) संघ के सदस्य अपनी नैतिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। वे अपने नियमों की सीमा में बंधे रहते हैं।

(३) नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से व्यर्थ एवं मृतप्राय सदस्य को संघ का त्याग कर देना पड़ता है।

(४) संघ में सम्मिलित होने के बाद सभी सदस्य अपने गोत्र, कुल आदि का नाम त्याग कर केवल संघ के सदस्य के रूप में पहचाने जाने लगते हैं।

(५) संघ में चाहे कितने ही सदस्य सम्मिलित होवें अथवा कितने ही त्यागें या सदस्यों की मृत्यु हो जावे, तो भी संघ न तो खाली होता है और न बढ़ता है।

(६) संघ के सभी सदस्यों के आचरण, चरित्र व्यवहार एवं विचारधारा में समानता होती है।

(७) संघ में अनेक विभिन्न प्रकार के मूल्यवान भावों की संपदा रहती है।

(८) संघ में ज्ञानी, भक्त, जीवन्मुक्त; सिद्ध और इसी तरह अनेक महापुरुषों का वास रहता है।

□

विवेक शिखा–स्थायी कोष के दाता

११. श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२. डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३. श्री राम छविला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४. श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५. श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसंड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६. श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७. श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१८. श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये
१९. श्री महादेव शि० गुंडावार	—	भद्रावती (महाराष्ट्र)	५० रुपये
२०. श्री राजीव कुमार राजू	—	सैदपुर, पटना-४	३१ रुपये
२१. श्री राज सिंह	—	गाजियाबाद (उ० प्र०)	५० रुपये
२२. श्री चन्द्र मोहन	—	टुण्डला (उ० प्र०)	९८५ रुपये
२३. श्री के० अनूप	—	अरुणाचल प्रदेश	२० रुपये
२४. श्री शतदल साधु खान	—	सोनारपुर(पश्चिम बंगाल)	१०० रुपये
२५. श्री ए० जी० डगाँवकर	—	यवतमाल	५१ रुपये

निवेदन—१. स्थायी कोष के लिए दान सम्पादकीय पते पर भेजने की कृपा करें।
२. चेक या ड्राफ्ट "विवेक शिखा" के नाम से भेजें।

४ जुलाई : निर्वाण-दिवस के सन्दर्भ में

स्वामी विवेकानन्द और हिन्दी

डॉ० केदारनाथ लाभ, डी० लिट्०

स्वामी विवेकानन्द भारत के पुनर्जागरण काल के एक विलक्षण पद्मोन्मेष थे। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिगुणात्मिका शक्ति ने उनके स्वर्ण-शैलाभ व्यक्तित्व का निर्माण किया था। वेदान्त की कर्मशीलता मूलक व्याख्या तथा समस्त धर्मों एवं दर्शनों में निहित सत्य को स्वीकारते हुए आपेक्षिक दृष्टि से हिन्दू धर्म एवं दर्शन की श्रेष्ठता की स्थापना कर उन्होंने पूर्व एवं पाश्चात्य देशों में अपनी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचय दिया था। उसे देखकर सम्पूर्ण विश्व चकित-चमत्कृत हो उठा था। इसी तथ्य को ध्यानस्थ कर स्वामी निर्वेदानन्द ने कहा था कि श्रीरामकृष्ण हिन्दू धर्म की गंगा थे जो वैयक्तिक साधना एवं समाधि के कमंडलु में बन्द थी, स्वामी विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने उस पावन सुरसरिता को श्री रामकृष्ण देव के कमंडलु से निकाल कर सारे विश्व में फैला दिया।

इस झझावाती संन्यासी (साईक्लॉनिक मौंक) स्वामी विवेकानन्द के बहु आयामी एवं चिरंतन कर्म-संकुल जीवन में हिन्दी किस प्रकार कभी अतः सलिला की भाँति अव्यक्त एवं कभी मंदाकिनी की भाँति व्यक्त रूप से तरलायित-तरंगित होती रही, इसकी ओर अब तक लोगों ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। स्वामी जी द्वारा दिये गये अँगरेजी में व्याख्यानों एवं संस्कृत में उद्धरणों की बहुलता के कारण प्रायः अनेक व्यक्तियों की यही धारणा है कि स्वामी विवेकानन्द "मात्र संस्कृत और अँगरेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे,' संभवतः ऐसे लोगों को यह नहीं मालूम है कि स्वामीजी को कम-से-कम अँगरेजी के अतिरिक्त सात-आठ भाषाओं का गहरा ज्ञान था। हिन्दी भी उनमें एक थी और इस भाषा के प्रति उनकी रागात्मक रुचि एवं आंतरिक प्रीति भी थी।

हिन्दी : आधुनिक भारत के आत्म-दर्शन की भाषा

अपनी विदेश यात्रा के पूर्व और पश्चात् कई बार स्वामीजी ने सम्पूर्ण भारत, विशेषतः हिन्दी भाषी क्षेत्रों की व्यापक यात्रा की थी। इस क्रम में उन्हें देवघर, वाराणसी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, आगरा, दिल्ली, अल्मोड़ा, देहरादून, खेतरी, जयपुर, अलवड़ आदि स्थानों में कई बार दीर्घकाल तक टिकना पड़ा था। अपनी छात्रावस्था में चौदह वर्ष के वय में ही उन्हें मध्यप्रदेश के रायपुर में तीन वर्षों तक अध्ययनार्थ अपने पिता के साथ रहना पड़ा था। स्वाभाविक है कि इन यात्राओं ने स्वामीजी के हृदय और मस्तिष्क में न केवल भारत-भूमि और भारतीय धर्म-दर्शन के प्रति अशेष आस्था की अखंड ज्योति जगा दी, बल्कि उनके मन-प्राणों में हिन्दी के लिए एक अरूप-राग भी जगा दिया। इन्हीं यात्राओं में उन्होंने हिन्दी के मध्यकालीन काव्य-सौन्दर्य का शिवात्मक दर्शन किया एवम् विद्यापति, कबीर, दादू, सूर, तुलसी, मीरा, नानक और गुरु गोविन्द सिंह आदि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का सम्यक् अनुशीलन कर यह अनुभव किया कि हिन्दी-ज्ञान के बिना मध्य-

कालीन एवं आधुनिक भारत की आत्मा की छवि का न तो दर्शन हो सकता है और न उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझा ही जा सकता है।

हिन्दी-गीत : जिसने जीवन-दृष्टि दी

स्वामीजी हिन्दी कविताओं का भावार्थ ही नहीं ध्वन्यर्थ भी समझ लेते थे, अर्थ की अतलता की इसी बोध-वृत्ति के कारण वे हिन्दी काव्य के कायल थे, एक हिन्दी-गीत ने किस प्रकार उन्हें नयी जीवन-दृष्टि दी, इसका एक बड़ा रोचक प्रसंग है। स्वामी जी शुद्ध वेदान्ती थे। किन्तु, व्यवहार में वेदान्त के अद्वैत-भाव को अनूदित करना सहज नहीं। स्वामी जी से भी चूक हो गयी। विश्व धर्म-सभा में भाग लेने वे अमेरिका जा रहे थे। १८९३ ई० की यह घटना है। खेतरी के महाराजा अजीत सिंह उन्हें विदा देने जयपुर तक आये। खेतरी-नरेश के सम्मान में जयपुर-नरेश ने एक मनोरंजक कार्य-क्रम का आयोजन किया। एक प्रसिद्ध लावण्यमयी तन्वंगी गणिका गायिका के रूप में बुलायी गयी। उसने गाना शुरू किया। उसकी स्वर-माधुरी पर मुग्ध हो खेतरी-नरेश ने स्वामी जी को, जो अपने शिविर में थे, गीत सुनने के लिए बुलावा भेजा। स्वामीजी ने महाराज को कहलवा भेजा कि संन्यासी होने के कारण वे किसी गणिका के बीच नहीं आ सकते, इस उत्तर ने उस गणिका को मर्माहत कर दिया, निवेदन में बड़े भरे हृदय से करुणापूर्ण स्वरों में वह गाने लगी महाकवि सूरदास का यह प्रसिद्ध गीत—

'प्रभु, मेरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो।।

स्वामीजी का शिविर संगीत-कक्ष के समीप ही था। ग्रीष्म-कालीन संध्या की मनोरम वायु-तरंगों पर तैरती हुई गणिका की वह मधुर रस भीनी स्वर-लहरी स्वामीजी के श्रुति-पथ पर पसर कर मर्म-भेदने लगी। वे एक अपराध-भाव से सिहर गये। उन्हें लगा, मानो इस गणिका के माध्यम से माँ भवतारिणी उन्हें अद्वैत-बोध करा रही है। तुरंत उठकर वे संगीत कक्ष में आये और श्रोताओं की मंडली में बैठ गये। इस गीत के सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा है—"हियरिंग दि सौंग, आइ थॉट, 'इज दिस माय संन्यास? आइ एम ए संन्यासी, एंड येट आइ हैव इन मी दि सेंस ऑफ डिस्टिंक्शन बिटविन माइसेल्फ एण्ड दिस वोमेन!' दैट इंसिडेंट रिमूव्ड दि स्केल्स फ्रॉम माइ आइज, सीइंग दैट ऑल आर इनडीड दि मेनिफेस्टेशन ऑफ दि वन, आइ कुड नो लौंगर कंडेम्न एनी वडी।"
—(दि लाइफ : बाय हिज इस्टर्न एंड वेस्टर्न डिसायपुल्स :) (पृ० २८१)

स्वामीजी के व्याख्यान और हिन्दी के कवि-काव्य

स्वदेश हो अथवा विदेश, भाषा अंगरेजी हो या अन्य कोई, स्वामी विवेकानन्द अपने व्याख्यानों में, अवसर आते ही हिन्दी के विभिन्न कवियों और उनकी कविताओं के उद्धरण देकर अपने श्रोताओं को प्रेरित करने से चूकते नहीं थे। सूर, तुलसी, कबीर, दादू और नानक की चर्चा प्रायः वे किया ही करते थे। उनके शिष्यों ने उनकी जीवनी में लिखा है—'हि वुड इंस्पायर देम स्पिरिचुअली विद स्टोरीज फ्रॉम दि लाइव्ज ऑफ संट्स लाइक······ गुरु नानक, तुलसीदास, कबीर एंड रामकृष्ण विद व्हिच हि यूज्ड टू इलस्ट्रेट हिज टीचिंग्स ऑफ दि स्क्रिपचर्स।

—(दि लाइफ : पृ० २०८)

वे अपने श्रोता से प्रायः कहा करते थे—'क्या भारत वर्ष में कभी संस्कारकों का अभाव था? रामानुज, शंकर, चैतन्य, नानक, कबीर और दादू कौन थे?······क्या उन्होंने अपने सारे जीवन में चांडाल तक को अपने सम्प्रदाय में लेने का प्रयत्न नहीं किया? नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों से समान भाव से परामर्श कर समाज में नये भाव

लाने की चेष्टा नहीं की ?''

—(भारत में विवेकानन्द : पृ० १४७)

कभी वे अपने व्याख्यान में कहते—'महानुभाव ······चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों के उठाने का जो प्रयत्न किया था उन महान् धर्माचार्यों को अपने ही जीवन में महान् सफलता मिली थी किन्तु, फिर उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ उसकी व्याख्या होनी चाहिए।'

—(भारत में विवेकानन्द : पृ० ३३७)

और कभी अपने शिष्यों को गुरु गोविन्द सिंह द्वारा दीक्षित जनों में उस समय कैसी एक महान् शक्ति का संचार होता था उसका उल्लेख कर स्वामी जी सिक्ख जाति में प्रचलित यह दोहा सुनाते थे—

सवा लाख से एक लड़ाऊँ
तौ गोबिन्द सिंह नाम कहाऊँ।

अर्थात् गुरुगोविन्द सिंह से नाम (दीक्षा) सुनकर प्रत्येक मनुष्य में सवा लाख मनुष्य से अधिक शक्ति संचारित होती थी।

—(विवेकानन्दजी के संग में : पृ० १०५)

स्वामीजी के प्रिय कवि : विद्यापति, सूर और तुलसीदास

स्वामी विवेकानन्द संगीत-कला में भी निष्णात थे, उनका कंठ-स्वर बड़ा मधुर था और जब बोलने लगते थे तो शब्दों से सांगीतिक झंकृति गूँजने लगती थी—ऐसा अनेक अमेरिकी श्रोताओं और पत्रकारों ने स्वामीजी के विषय में लिखा है। स्वयं परमहंस रामकृष्ण स्वामीजी का गीत सुनकर ही पहले पहल उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। स्वभावतः जब भी वे मौज में आते, या विशेष भावदशा में होते अथवा अपने शिष्यों की लघुमंडली में वार्तालाप करते रहते तो वे बीच-बीच में भजन गाने लगते। इस क्रम में बंगला गीतों के अतिरिक्त हिन्दी के भी गीत गाते। विद्यापति, सूर और तुलसी उनके प्रिय हिन्दी कवि थे। उनके कई शिष्यों ने उनके हिन्दी गीत गाने के प्रसंगों की चर्चा की है।

१८९१ ई० की फरवरी में स्वामीजी राजपुताने के अलवर में थे। वहाँ किस प्रकार अपने शिष्यों से बातें करते-करते भाव-विह्वल हो वे गीत गाने लगते इसकी चर्चा करते हुए उनके शिष्यों ने लिखा है—दि स्वामीज डिस्कोर्स वाज इंटर्सपर्सड विद दि सिंगिंग ऑफ हिन्दी भजन, एंड समटाइम्स बंगाली कोर्त्तन, एंड सौंग्स ऑफ दि ग्रेट डिवोटीज—विद्यापति, चंडीदास एंड रामदास,

—(दि लाइफ : पृ० २०७)

स्वामीजी के एक अन्य प्रिय शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्त्ती ने अपने संस्मरण में लिखा है—"राम नाम कीर्त्तन के अन्त में स्वामीजी उसी प्रकार मतवाली अवस्था में गाने लगे—'सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई।'

—(विवेकानन्दजी के संग में : पृ० ११६)

एक अन्य स्थल पर पुनः वे लिखते हैं—"इसके बाद स्वामीजी ने कई हिन्दी गीत गाये, 'बैंया न पकरो मोरी नरम कलैयाँ', प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो' इत्यादि। शिष्य संगीत विद्या में ऐसा पूर्ण पंडित था कि गीत का एक वर्ण भी उसकी समझ में नहीं आया।"

—(वही पृ० ११७)

तुलसीदास तो स्वामीजी के इतने प्रिय कवि थे कि उनके दोहे-चौपाइयों का वे न केवल अपने व्याख्यानों में जब तक उल्लेख किया करते बल्कि अपने पत्र-व्यवहार में भी वे गोस्वामीजी की पंक्तियां प्रायः उद्धत कर दिया करते थे। राम-चरितमानस के आरंभ में संत-असंत वन्दना करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है—

वंदउ संत असंतन चरना।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।
मिलत एक दुख दारुन देहीं॥

स्वामीजी ने इन चौपाइयों के भावोद्धरण से ही, २६ जून १८९४ को शिकागो से अमेरिका की कुमारी हेल बहनों को लिखे गये पत्र का आरंभ किया था। उन्होंने लिखा था—

'डियर सिस्टर्स,

दि ग्रेट हिन्दी पोएट तुलसीदास इन दि बेनेडिक्शन··· ऑफ दि रामायण सेज 'आइ बाउ डाउन टु बोथ दि, विकेड एण्ड दि होली, वट एलास, फॉर मी दे आर बोथ इक्वली टोर्चरर्स—दि विकेड विगिन टु टॉर्चर मी एज् सून एज दे कम इन कंटैक्ट विद मी—दि गूड एलास टेक माइ लाइफ अवे व्हेन दे लीव मी।' थाइ से अगेन टु दिस टु मी फौर हूम दि ओनली प्लेजर एन्ड लव लेफ्ट इन दि वर्ल्ड इज टु लव दि होली वन्स ऑफ गॉड—इट इज ए मोरटल टौर्चर टु सेपरेट माइसेल्फ फ्रॉम देम।' —(विवेकानन्द इन अमेरिका : न्यू डिस्कौवरीज : पृ० ४५९)

मार्च १९०१ में ढाका के जगन्नाथ कॉलेज-भवन में व्याख्यान देते हुए स्वामीजी तुलसीदास के एक दोहे का उद्धरण देते हुए कहते हैं—"आजकल एक और दल हैं जो ईश्वर और संसार दोनों की एक साथ ही उपासना करने के लिए कहता है। वह सच्चा नहीं। उसका भाव और मुँह एक नहीं है, प्रकृत महात्माओं का उपदेश है—

जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहि राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम॥

इसलिए ये महापुरुष कहते हैं कि यदि ईश्वर को पाना चाहते हो तो काम-कांचन का त्याग करना होगा।

भारत में विवेकानन्द : पृ० ४४८

तुलसीदास के उपर्युक्त दोहे के अतिरिक्त अन्य कई दोहों को स्वामीजी ने अपने विभिन्न व्याख्यानों में उद्धृत किया था।

ऐतिहासिक हिन्दी अभिभाषण

स्वामीजी के हिन्दी अनुराग का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उन्होंने हिन्दी में जो व्याख्यान दिये हैं वे ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। स्वामीजी अपनी शिष्य-मण्डली या जिज्ञासुओं के बीच अवि-राम गति से हिन्दी में वार्तालाप कर लेते थे, इसके कई प्रमाण मिल चुके हैं। अब यह तथ्य भी प्रकाश में आ चुका है कि विश्वजयी होकर विदेशों से लौटने के उपरांत स्वामीजी ने स्वदेश में कम-से-कम दो व्याख्यान मौलिक रूप से शुद्ध हिन्दी में दिये। प्रथम व्याख्यान उन्होंने २८ जुलाई १८९७ को अल्मोड़ा में दिया। 'जब स्वामीजी के अल्मोड़ा में ठहरने की अवधि समाप्त हो रही थी, उस समय उनके वहां के मित्रों ने उनसे प्रार्थना की कि आप कृपया एक भाषण हिन्दी में दें। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना पर विचार कर उन्हें अपनी स्वी-कृति दे दी। हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने का उनका यह पहला अवसर था। स्वामीजी ने पहले धीरे-धीरे बोलना शुरू किया परन्तु शीघ्र ही अपने विषय पर आ गये और थोड़ी ही देर में उन्होंने यह अनुभव किया कि जैसे-जैसे वे बोलते जाते थे, वैसे-वैसे उनको मुँह से उपयुक्त शब्द तथा वाक्य निकलते जाते थे। वहाँ पर कुछ उपस्थित लोग जो शायद यह अनुमान करते थे कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने में शब्दों की बड़ी कठिनाई पड़ती है, कहने लगे कि इस व्याख्यान में स्वामीजी की पूर्ण विजय रही तथा उन्होंने अपने अधिकारपूर्ण भाषा के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने के लिए शब्दों तथा मुहावरों का इतना अपूर्व कोष है जितना कभी सोचा भी नहीं जा सकता था। इस भाषण का विषय था—'वैदिक उपदेश—तात्विक और व्याव-हारिक"

—भारत में विवेकानन्द : ३२५-२६

स्वामीजी अपने उक्त व्याख्यान से स्वयं इतने प्रसन्न थे कि दूसरे ही दिन अर्थात् २९ जुलाई

१८९७ को उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द जी को यह पत्र भेजा —"डियर शशि, ...येस्टर डे आइ डेलिवर्ड ए लेक्चर इन दि सर्कल ऑफ दि लोकल इंग्लिश पीपुल एण्ड ऑल वेयर हाइली प्लीज्ड विद इट। बट आई वाज वेरी मच प्लीज्ड विद दि लेक्चर इन हिन्दी दैट आइ डेलिवर्ड दि प्रिवियस डे—आइ डिड नॉट नो बिफोर दैट आइ कुड बी ओरेटोरिकल इन हिन्दी।'

—कम्पलीट वर्क्स : वॉल्यूम : ४१६

स्वामीजी का दूसरा हिन्दी भाषण हुआ सियालकोट (अब पाकिस्तान में) में सितम्बर १८९७ में विषय था—भक्ति। वह व्याख्यान स्वामीजी के उदात्त विचार एवं गंभीर ज्ञान से परिपूर्ण तो था ही, इतना विस्तृत भी था कि उसका सार-संक्षेप भी कम-से-कम बारह पृष्ठों में मुद्रित है। भाव की गहनता, भक्ति की निर्मलता, अभिव्यंजना की तरलता और शैली की लालित्यपूर्ण व्यासमयता इस व्याख्यान को सहज ही हृदयावर्जक बनाती हैं।

हिन्दी अनुवाद का निर्देश

देश-विदेश के व्यापक पर्यटन के पश्चात् स्वामी जी ने अपनी अन्तश्चेतना की सूक्ष्म दृष्टि से यह देख लिया था कि हिन्दी ही भावी भारत के आत्मिक-सौन्दर्य एवं आत्मानुभूति की सक्षम वाहिका होगी। हिन्दी की व्यापकता का बखान वे विदेशों में करते ही रहते थे। १८ जनवरी १९०० ई० को सेक्सपियर कल्ब, पेसेडेना, कैलिफोर्निया में भाषण देते हुए उन्होंने भारत में हिन्दी की महिमा पर प्रकाश डाला था। उन्होंने कहा था—'भारत में हिन्दी दस करोड़ व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है।' इसके साथ ही उन्हें यह विश्वास भी हो चुका था कि भारत के विकास में अंग्रेजी-शिक्षा साधिका नहीं बल्कि बाधिका ही होगी। 'अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द : कुछ नयी खोज' की लेखिका मेरी लूसी बर्क ने लिखा है—'वस्तुतः अपने निर्वाण से कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने यह विचार प्रकट किया था कि भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा की प्रस्तावना ने इसके विकास को कम-से-कम पचास वर्ष पीछे फेंक दिया है।' स्वभावतः स्वामीजी की आकांक्षा थी कि रामकृष्ण मिशन के कार्यों में हिन्दी को पर्याप्त महत्त्व दिया जाय। हिन्दी में पत्रिकाएं प्रकाशित हों, स्वामीजी द्वारा लिखित ग्रंथों या दिये गये प्रवचनों का हिन्दी में रूपान्तर हो तथा मिशन के संन्यासी हिन्दी को अपनायें—ऐसी स्वामी जी की इच्छा थी। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'राजयोग' के हिन्दी अनुवाद का निर्देश देते हुए अपने गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द (रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष) को १३ सितम्बर १८९७ ई० को लिखा था—"इफ दि ट्रांसलेशन ऑफ राजयोग हैज बीन कम्प्लीटेड गेट इट पब्लिश्ड बियरिंग ऑल दि कॉस्ट......एंड लेट तुलसी मेक ए हिन्दी ट्रांसलेशन ऑफ इट इफ ही केन।"

—कम्प्लीट वर्क्स: वोल्यूम ३ : पृ० ४२०

स्वामीजी के निर्देश के फलस्वरूप थोड़े दिनों में ही उनकी समस्त रचनाएँ हिन्दी में अनूदित हुईं। साथ ही परमहंस रामकृष्ण देव जी के बचनामृत का अनुवाद निराला जी द्वारा करवाया गया और स्वामी माधवानन्द द्वारा, जो स्वयं हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे, मिशन की ओर से हिन्दी पत्रिका 'समन्वय' का प्रकाशन हुआ, जिसके आरम्भ के तीन वर्षों तक स्वयं महाकवि निराला सम्पादन के समस्त कार्य करते थे।

और एक मौलिक हिन्दी कविता

स्वामीजी केवल विचारक, विलक्षण वक्ता और आध्यात्मिकता-प्रवण राष्ट्रभक्त ही नहीं, एक सुकुमार कवि भी थे। उनकी कविताओं का मूल उत्स अध्यात्मलोक का दिव्यालोक है, जहाँ स्वामीजी द्वारा प्रणीत अंग्रेजी, बंगला और संस्कृत में अनेक कविताएँ उपलब्ध हुई हैं, वहीं उनके द्वारा हिन्दी में रचित एक मौलिक कविता भी प्राप्त हुई है। जिसका शिर्षक है—'श्रीकृष्ण-संगीत'। यह

भक्त्यात्मक गीत राधा की भाव-दशा में लिखा गया है। पूरी कविता यों है—

'मुझे वारि वनवारी सैंया
जाने को दे।
जाने को दे रे सैंया
जाने को दे (आजु भला)॥
मेरो बनवारी, बाँदि तुम्हारी
छोड़े चतुराई सैंया,
जाने को दे (आजु भला)
(मेरे सैंया)
जमुना किनारे, भरो गागरिया
जोरे कहत सैंया
जाने को दे॥'

इस कविता से निश्चय ही स्वामीजी का हिन्दी के प्रति अनुराग-भाव ही प्रकट होता है। निश्चय ही स्वामीजी ने हिन्दी के प्रति खुलकर अपनी अनुराग-भावना का प्रकाशन नहीं किया। उन्हें कार्य अधिक करने थे, समय कम था। किन्तु, हिन्दी के प्रति जिस सूक्ष्म सांकेतिक भाव से उन्होंने अपनी प्रीति प्रकट की क्या वही आगे चलकर महात्मा गाँधी आदि राजनायकों में खुलकर नहीं प्रकट हुई? दिनकर ने ठीक ही लिखा है—'वर्त्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए।"

—संस्कृति के चार अध्याय: पृ० ५०६

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

—स्वामी सदाशिवानन्द

भिंगा के राजा लखनऊ के पास के एक बहुत बड़े जमीन्दार थे। उन्हें संस्कृत तथा अंग्रेजी की अच्छी जानकारी थी। उन्होंने व्रत लिया था कि वे अपना शेष जीवन वाराणसी में व्यतीत करेंगे और कभी भी काशी की सीमा के बाहर नहीं जायेंगे—न केवल नगर की सीमा के बाहर बल्कि अपने उद्यानगृह के बाहर भी पैर न रखेंगे। वाराणसी के दुर्गा मंदिर के पास भिंगा– राजभवन में अपना दिन व्यतीत करने का उन्होंने संकल्प लिया था। वे एक साधक थे तथा संन्यासी की तरह रहते थे। जब उन्हें स्वामीजी के वाराणसी आगमन की सूचना मिली, उन्होंने स्वामी गोविन्दानन्द को फल, फूल, मिठाई आदि उपहार के साथ स्वामीजी के पास भेजा। उस समय स्वामी शिवानन्द भी वहाँ उपस्थित थे। स्वामी गोविन्दानन्द ने दोनों स्वामियों को "नमो नारायणाय" कहकर अभिवादन किया तथा निवेदन किया—"भिंगा नरेश आपका दर्शन चाहते हैं। अगर आपकी आज्ञा हो तो वे अपना व्रत, कि अपने उद्यान से बाहर न जाऊँगा, तोड़कर भी आपके दर्शन के लिए आयेंगे।" स्वामीजी प्रत्यक्षतः द्रवित हो गये और बोले, "नहीं, नहीं! वैसा करने की आवश्यकता नहीं है। उनका व्रत तुड़वाना अनुचित होगा। मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा। राजा को यहाँ आने की जरूरत नहीं है।" दूसरे या तीसरे दिन स्वामी गोविन्दानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के साथ राजा से मिलने गये।

राजा ने कहा, "आप बुद्ध तथा शंकर की तरह महान आत्मा हैं। संपूर्ण वार्त्तालाप स्वामीजी के प्रति गहरी श्रद्धा तथा भक्ति से भरा हुआ था। उन्होंने स्वामी

जी से शास्त्र तथा कर्म के सम्बन्ध में बातचीत की। राजा अपनी युवावस्था में बड़े ही प्रबल कर्मी थे। उन्होंने वाराणसी में सेवा कार्य के लिए एक मठ की स्थापना के लिए प्रार्थना की और वादा किया कि वे उसका खर्च वहन करेंगे। स्वामीजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, अतः उन्होंने कोई वचन नहीं दिया। उन्होंने सिर्फ इतना कहा, "मैं अभी बेलुड़ मठ जा रहा हूँ। जब मेरा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा तब मैं कर्म पर विशेष ध्यान दूँगा।" कई अन्य प्रकार की चर्चाओं के बाद स्वामीजी तथा स्वामी शिवानन्द 'सोंधवास' भवन लौट आये।

अगले दिन राजा ने एक संदेशवाहक के द्वारा एक बंद लिफाफे में ५०० रु० का चेक तथा एक पत्र भिजवाया। स्वामीजी के पास ही स्वामी शिवानन्द बैठे हुए थे। स्वामीजी ने उनसे अनुरोध किया, "महापुरुष दा, इस रुपये से आप यहाँ श्री ठाकुर का एक मठ स्थापित कीजिए। बाद में जुलाई महीने में एक बगीचा किराये पर लिया गया तथा वहीं रामकृष्ण अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई।

एकदिन स्वर्गीय प्रमद दास मित्र के पुत्र श्री कालीदास मित्र संध्या पाँच बजे स्वामीजी से मिलने आये। उनके पिताजी स्वामीजी के मित्र थे। स्वामीजी अपने मित्र के पुत्र से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। वे दरी पर बैठ गए। स्वामी शिवानन्द, चारुबाबू, मैं तथा कुछ अन्य लोग उन्हीं के पास बैठे। काली बड़े ही मनोयोग से स्वामीजी की बातें सुन रहे थे। मैं उस समय बहुत कम उम्र का था—बीस से अधिक का नहीं। उस दिन स्वामीजी जो कुछ बोले, वह सब याद नहीं है, फिर भी वह दृश्य अभी भी मेरी स्मृति में बिल्कुल ताजा है, यद्यपि आधी शताब्दी बीत चुकी है।

महान एवं शुद्धचित्त पुरुष प्रायः दूसरे के मन में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर उसके बगैर बोले ही दे देते हैं। उस शाम स्वामीजी ने ऐसा ही कुछ किया था। एक बार लंदन में स्वामीजी ने अपने भाषण के पूर्व उपस्थित लोगों से कहा, "प्रत्येक व्यक्ति अपना मनचाहा प्रश्न कागज के टुकड़े पर लिखकर, अपनी-अपनी जेब में रखिए। उसे मुझे देने की जरूरत नहीं है। मैं हरेक व्यक्ति के प्रश्न का जबाव दूँगा। जब लोगों ने वैसा कर लिया, तब स्वामीजी अपनी दाहिनी ओर मुड़कर बोले' "आपका प्रश्न यह रहा।" तब उन्होंने देखा कि उनकी बाँयी ओर का व्यक्ति बड़ी उत्सुकता से अपने प्रश्न के बारे में जानना चाहता है तो बाँयीं ओर मुड़कर उसके प्रश्न के बारे में कहकर, वे उस व्यक्ति के घर के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बतलाने लगे—कि घर में क्या-क्या वस्तुएँ हैं, कौन-कौन सदस्य हैं, वे अभी क्या कर रहे हैं आदि-आदि। प्रश्नकर्त्ता तथा वहाँ उपस्थित अन्य लोग स्वामीजी की इस दिव्य-दृष्टि को देखकर अत्यंत आश्चर्यचित थे। उस दिन स्वामीजी छः या सात व्यक्तियों के प्रश्न के सम्बन्ध में तथा उनलोगों के घर के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बोले।

एकबार इंगलैण्ड में स्वामी सारदानन्द बहुत दिनों तक मलेरिया से पीड़ित थे। वे बहुत ही दुबले तथा कमजोर हो गये थे। एक दिन वे बिल्कुल शिशुवत स्वामी जी के चरण तले आकर बैठ गये। वे स्वामीजी को साक्षात रामकृष्णदेव समझते थे। इस तरह उस शान्त एवं विनम्र शरणागत मनोदशा में उन्होंने आध्यात्मिक उत्साह से प्रेरित होकर ज्ञान की प्राप्ति एवं मुक्ति के लिए उनसे प्रार्थना की। स्वामीजी की इच्छा से तत्क्षण स्वामी सारदानन्द स्वस्थ, समर्थ एवं शान्त हो गये। स्वामी सारदानन्द ने स्वामीजी की इस आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा की, लेकिन उन्होंने उसे प्रकट नहीं किया। ऐसे बहुत सारे लोग थे, जिनमें से कुछ अभी भी जीवित हैं, उन्हें स्वामीजी की ऐसी अवस्था के दर्शन का अवसर मिला था जब उनकी महान शक्तियाँ प्रकट होती थीं। परन्तु वे इन सिद्धियों को दबाकर रखते थे। उन्हें सिद्धि-प्रदर्शन से घृणा थी।

कालीदास मित्र ललित कला के बहुत बड़े प्रेमी थे। उन्होंने बहुत गहराई से इसका अध्ययन किया था। ज्योंहि काली बाबू कमरे में बैठे, उनके विचार तथा चिंतन स्वामीजी के मन से तरंगित होने लगे। और इसके

साथ ही स्वामीजी के चेहरे की अभिव्यक्ति, स्वर एवं हाव-भाव बिल्कुल बदल गये। वे कालीबाबू की ओर देखकर ललितकला, चित्रकला और तत्सम्बन्धी विषयों पर धाराप्रवाह बोलने लगे—यहाँ तक कि विभिन्न देशों के लोगों की वेशभूषा, प्रकृति से उनलोगों के सम्बन्ध, अभिव्यक्ति के ढंग आदि। वे इस तरह बोल रहे थे मानो कि कलाकार एवं चित्रकारों की सभा के समक्ष वे अत्यंत विद्वत्तापूर्ण एवं रोचक भाषण दे रहे हों।

उस समय यह कोई नहीं सोच सकता था कि वे एक चित्रकार एवं कलाकार के अतिरिक्त कुछ और हैं और पूरा जीवन उन्होंने इसी के अभ्यास तथा संवर्धन में विताया है। रंगों का सामंजस्य, छाया एवं रंगों का विभिन्न सम्मिश्रण, लावण्य एवं लालित्य, भाव-भंगिमा, आँख के विभिन्न कोण एवं स्थिति, मध्यभाग, आवक्ष मूर्ति, विभिन्न भंगिमायें तथा अंग विन्यास आदि—ये सब वार्ता के विषय थे। मैं उस समय अल्पवयस्क था, अतः सारी बातें मुझे समझ में नहीं आयीं। किन्तु निस्सन्देह कला, चित्रकारी एवं शिल्प पर वह एक अद्भुत व्याख्यान था।

उसके बाद स्वामीजी ने विभिन्न देशों की चित्रकला की विभिन्न विचार धारा एवं शाखाओं की तुलना की—जैसे-इटली, फ्रांस, चीन, फारस, जापान, बुद्धकालीन एवं मुगलकालीन भारत।

एकबार स्वामीजी फ्रांस की एक प्रसिद्ध नाट्यशाला में आमंत्रित होकर पहुँचे। इसके पटाक्षेप (ड्राप सीन) एक प्रसिद्ध चित्रकार द्वारा चित्रित किये गये थे। इस कलाकार का रंग-चित्र और विशेषकर इस रंगमंच का उन दिनों पेरिस की सभी रंगशालाओं एवं रंगचित्रकारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। स्मामीजी फ्रांसीसी भाषा जानते थे अतः वे अच्छी तरह से नाटक को समझ सकते थे। अचानक उनकी दृष्टि पर्दे के एक अंश पर पड़ी जिसमें तकनीकी त्रुटियाँ थीं जिनका सुधार संभव था। जब नाटक समाप्त हुआ तो उन्होंने मैनेजर को बुलवाया। मैनेजर के साथ वह कलाकार भी आया, जो इस प्रसिद्ध एवं सम्मानित अतिथि के मुख से नाटक के सम्बन्ध में उनकी राय सुनने को उत्सुक था। जब स्वामीजी ने तकनीकी त्रुटियों के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया तो वे बहुत आश्चर्यित हुए। क्योंकि वह दृश्य श्रेष्ठकृति (मास्टर पीस) समझा गया था, कुशल निगाहें भी दोष को ढूँढ़ नहीं पातीं। कलाकार ने दोष स्वीकार किया। चित्रों में अभिव्यक्तियों के सामंजस्य के सम्बन्ध में स्वामी जी की सलाह सुनकर, वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि स्वामीजी को चित्रकला की तकनीक का उतना ही ज्ञान है जितना अन्य विषयों का।

हमने एक दूसरी घटना के सम्बन्ध में भी सुना है। एकबार इंगलैण्ड में स्वामीजी कुमारी मूलर तथा कुछ अन्य लोगों के साथ प्रोफेसर बेन से मिलने गये। कुमारी मूलर प्रो० बेन के यहाँ तर्कशास्त्र की छात्रा थी। बेन साहब की 'सम्भाविता की तर्क संगति' (लॉजिक आव चांस) उतनी ही प्रसिद्ध थी, जितनी उस विषय में उनकी गहरी जानकारी। उन्होंने अपना सारा जीवन तर्कशास्त्र के अध्ययन में ही बिताया था और यूरोप में उन्हें इस विषय का विशेषज्ञ माना जाता था। बेन साहब ने स्वामीजी के सम्बन्ध में सुना था। चूँकि उन्हें आध्यात्मिक विषयों में अधिक रुचि नहीं थी, अतः चर्चा का रूख पूरी तरह से तर्कशास्त्र की तरह मुड़ गया। जब स्वामीजी तर्कशास्त्र पर बोलने लगे तो प्रोफेसर को लगा कि स्वामी जी ने भी अपना पूरा जीवन उन्हीं की तरह तर्कशास्त्र के अध्ययन में ही बिताया है। उन्होंने टिप्पणी करते हुए कहा, "आज भारतवर्ष के एक तर्कशास्त्री पश्चिम के तर्कशास्त्री से मिलने आये हैं।"

अब हम पुनः चित्रकला के विषय पर लौटें। 'चित्र' शब्द का मूल 'चित' (हृदय) है। 'चित' हमारे समक्ष जो कुछ भी व्यक्त करता है, वह चित्र कहलाता है। जैसे ही स्वामीजी का मन अन्तर्मुखी होकर चिदाकाश में लीन होता है, वैसे ही कला का सार तत्त्व एवं इसकी अभिव्यंजना उनकी दिव्य दृष्टि के समक्ष प्रकट हो जाती है। वे तुरत कला की सारी जटिलताओं को जान जाते हैं और सारी तस्वीरें जिन्हें उन्होंने कभी देखी थी, उनके

हृदय में प्रतिभासित हो जाती हैं। वे प्रायः कहा करते थे, "जब मैं किसी वस्तु को देखता हूँ तो यह हमारे मन की अवचेतन भूमि में प्रविष्ट हो जाती है, और पुनः आवश्यकता पड़ने पर चेतन भूमि में आ जाती है।"

वे यह भी कहते थे, "यदि मैं शंकर की प्रतिमा पर ध्यान केंद्रित करता हूँ तो मैं शंकर हो जाता हूँ; यदि मैं बुद्ध की प्रतिमा पर ध्यान केन्द्रित करता हूँ तो मैं बुद्ध हो जाता हूँ। जब मैं किसी खास विषय पर ध्यान केंद्रित करता हूँ, तो ऐसे विचार तत्त्व हमारे समक्ष प्रकट हो जाते हैं जिनके सम्बन्ध में पहले मैंने कुछ सुना भी न था। इस प्रकार मैं अपने को भूलकर जो कुछ मैंने देखा था, उस पर बोलता चला जाता हूँ। और तुम सब तो जानते ही हो कि मैं कोई विद्वान नहीं हूँ, एक साधारण व्यक्ति हूँ।" अपने इंगलैण्ड व्याख्यान के दौरान उन्होंने इस बात का परिचय दिया था।

उस दिन हमलोग स्वामीजी की इस विलक्षणता के सम्बन्ध में सोचते रहे। हमलोग इस दार्शनिक के संबंध में आश्चर्य करते रहे जो केवल चित्रकारी, कला एवं रंगों की तकनीक के संबंध में बोलते रहे थे।

किसी अन्य दिन शाम के समय कालीदास मित्र स्वामीजी से मिलने आये। ऊनी स्वेटर तथा मोजा पहने हुए; तकिया पर पीठ टिकाये हुए स्वामीजी आराम कर रहे थे। वे बीमार थे, काफी पीड़ा हो रही थी तथा साँस लेने में कठिनाई भी हो रही थी। हमलोग उनके पास ही दरी पर बैठे हुए थे। मित्र महोदय ने चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया। स्वामीजी बोले, "मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया है, काफी तकलीफ महसूस होती है।" उन्होंने पूछा, "कौन-सी बीमारी है?" स्वामीजी बोले, "कह नहीं सकता। पेरिस तथा अमेरिका में अच्छे-अच्छे चिकित्सकों से दिखलाया किन्तु वे रोग पहचान न सके और न कोई इलाज सुझाये।" इसके बाद काली बाबू ने जिज्ञासा की, "सुना है, आप जापान जा रहे हैं। क्या सही बात है?" स्वामीजी बोले, "जापान सरकार ने ओकाकुरा को इसी उद्देश्य से भेजा है। जापान बहुत सुन्दर देश है। उसने उद्योग को कला की तरह विकसित किया है और प्रत्येक घर उद्योग का केन्द्र है। मैं अमेरिका जाते समय वहाँ गया था। वे लोग बाँस के बने छोटे मकान में रहते हैं। प्रत्येक घर के सामने एक पुष्पवाटिका होती है, जिसमें कुछ फल के पेड़ भी होते हैं। यह बहुत ही प्रगतिशील जाति है। यदि मैं श्री रामकृष्ण की इच्छा से जापान जा सका तो तुम भी साथ चलना। जापानी लोगों ने पाश्चात्य संस्कृति (विज्ञान एवं उद्योग) को ग्रहण किया है। वैसे तो वे लोग बौद्ध धर्मावलंबी हैं, लेकिन अध्यात्म के प्रति वे जरा उदासीन हैं। यदि भारतीय विचार तथा आदर्श जापान में प्रवेश कर सके तो जापान अधिक धर्मभाव संपन्न हो जायगा। वेदान्त का थोड़ा सा इंजेक्शन लगने से वह आश्चर्यजनक रूप से विकास करेगा।" काली बाबू इस पर बोले, "तो भारत को इससे क्या लाभ होगा?" स्वामीजी ने कहा, "विचार तथा संस्कृति के परस्पर आदान-प्रदान से दोनों देशों को सहायता मिलेगी और दोनों विकासोन्मुख होगा।"

वे जापान की अद्भुत उन्नति के सम्बन्ध में बोलते रहे। और बातों के क्रम में भारत की अत्यधिक निर्धनता पर विचार करने लगे। वे अपने स्वास्थ्य की दुरवस्था तथा बीमारी को एक दम भूल गये। वे भारत की निम्न-स्थिति तथा आर्थिक कष्ट को सोचकर बहुत ही दुःखी थे। उनका मुखमंडल नीलाभ एवं उदास हो गया। कभी-कभी वे रामप्रसाद के भक्तिगीत गाया करते थे। इसने उनको बिलकुल दूसरे व्यक्ति में बदल दिया। हमने उन गीतों में भी भारत की भावना एवं आवेग को मानसिक रूप से प्रत्यक्ष किया। अपने देश के लिए हम सभी का हृदय दुःखी था।

स्वामीजी जापान की द्रुतप्रगति के सम्बन्ध में बातें करने लगे। सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में विशिष्ट न होते हुए भी किस तरह यह छोटे से राज्य से अपने को एक आत्मनिर्भर देश में उन्नत कर लिया। इसके बाद वे फ्रांसीसी क्रान्ति तथा नेपोलियन पर बोलने लगे। आत्मनिर्भरता एवं दृढ़ चरित्र-बल के बदौलत एक साधारण सिपाही से नेपोलियन ने अपने को गौरव

के शिखर पर पहुँचा दिया। इस विषय ने पुनः स्वामीजी के मुखमंडल एवं हाव-भाव को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। वे एक दूसरा ही व्यक्ति बन गये! मानो वे नेपोलियन के जमाने के फ्रांस में पहुँच गये हों।

वे उत्साह, बल एवं ओजस्विता से भरे हुए थे। उनका चेहरा कुछ कर डालने को कटिबद्ध था, आवाज काफी ऊँची एवं तीखी हो गयी, आँखें फैल गयी और उनमें से फ़ौलादी चिनगारी निकल रही थी। वे इतने उत्तेजित हो गए थे कि कभी घुटनों के बल तकिया पर वैठ जाते, फिर दरी पर और कभी उसी वैठी हुई मुद्रा में उछलने भी लगते। नेपोलियन की वात कहते-कहते वे खुद नेपोलियन बन गये थे। ऐसा लग रहा था मानो वे खुद जेना तथा ऑस्टरलिट्ज का युद्ध संचालन कर रहे हों। "वह देखो—दुश्मन दूर भागा जा रहा है—घेरो, पकड़ो उसे—पूर्वी ब्रिगेड आगे बढ़ो—देखो एक भी आदमी जिंदा बचकर भाग न पावे!" "हमने लड़ाई जीत ली है, हम विजयी हुए"—इस प्रकार वे खुशी में चिल्लाने लगे। कभी एक हाथ उठाकर तो कभी दोनों हाथ उठाकर इस काल्पनिक विजय पर वे आनन्द प्रकट करने लगे और फ्रांसीसी विजय के गीत गाने लगे।

स्वामीजी इतने उत्तेजित एवं परिवर्तित हो गये थे कि हम सभी—चारुबाबू, स्वामी शिवानन्द तथा वहाँ उपस्थित अन्य लोग बिल्कुल भौंचक्के देखते रह गये। नौकर-चाकर, माली, हरेक व्यक्ति जो जहाँ था वहीं का वहीं खड़ा रहा। हमलोग हाथ-पैर कुछ भी हिला नहीं सकते थे, ऐसा लग रहा था कि हम सभी सम्मोहित हो गये हैं। स्वामीजी के शरीर से तेज, उष्मा एवं कांति निःसृत हो रही थी। कमरे का वायुमंडल तेजोदीप्त हो गया था और हम सभी जेना या ऑस्टरलिट्ज की युद्धभूमि में पहुँच चुके थे। और देख रहे थे—बाज की तरह चमकीली आँखों वाले नेपोलियन को जो सेना को कड़े आदेश दे रहे थे। नेपोलियन की भूमिका ग्रहण किये स्वामीजी के नेतृत्व में हम सभी साहस एवं वीरता के भावों से भर गये थे। हम सभी मार्शलिनें, साउल्ट, विक्टर, मैरमोंट, मैक डोनाल्ड आदि बन गये थे। हम सभी अपने भीतर नेपोलियन की शक्ति को महसूस कर रहे थे और ऐसा लग रहा था कि हम अपने से अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी संसार-विजय कर सकते हैं।

स्वामी शिवानन्द ने हमलोगों से कहा, "यह स्वामीजी का अनुप्राणित व्याख्यान था। यूरोप तथा अमेरिका में स्वामीजी ने जितने व्याख्यान दिये, वे सभी इसी तरह ईश्वर प्रेरित अवस्था में दिये गये थे।"

इसके बाद स्वामीजी ने ललित विस्तर से भगवान बुद्ध के प्रसिद्ध 'प्रण' का पाठ किया, जिसे भगवान बुद्ध ने पत्थर की शिला पर बैठकर बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व किया था और उन्होंने अपने भीतर उस चेतना का आह्वान किया। इस आसन पर चाहे यह शरीर सूख जाय, मांस एवं अस्थियाँ गल जाय, लेकिन कई जन्मों में भी प्राप्त न हो सकनेवाला निर्वाण, प्राप्त किये वगैर मैं आसन नहीं छोड़ूँगा।"

स्वामीजी के हृदय में अपने गुरुभ्रातागण उनसे अनुरक्त गृहस्थ भक्तों के प्रति अत्यधिक प्रेम था। यदि कोई बीमार पड़ जाता अथवा किसी के सम्बन्ध में कोई अशुभ समाचार मिलता तो वे उस व्यक्ति के लिए काफी चिन्तित हो जाते थे। जबतक वे यह जान नहीं लेते कि वह कुछ अच्छा हो गया है, वे बेचैन रहते। बहुत सारी घटनाएँ पहले ही बतायी जा चुकी है, अब उन्हें दुहराने की यहाँ जरुरत नहीं हैं। स्वामीजी का स्वास्थ्य पूरी तरह से चौपट हो गया था। वे स्वामी शिवानन्द से कहा करते थे—"यह एक भग्न शरीर है। कितने दिनों तक आपलोग इसे चला सकते हैं? मान लो यह शरीर नहीं भी रहेगा तो निवेदिता शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) तथा अन्य लोग मेरे आदेश का पालन करेंगे। वे मेरे कार्य के लिये प्राण न्यौछावर कर देंगे, लेकिन कदम पीछे

नहीं हटायेंगे। उन्हीं लोगों पर मेरी आशा केन्द्रित है।" इस तरह वे हमलोगों में आशा का संचार करते तथा हमलोगों के लिये मंगलकामना करते।

इन दिनों उनकी आकर्षण शक्ति एवं प्रेम इतना बढ़ गया था कि हमें प्रतीत होता था उनका शरीर मानो घनीभूत भावना, प्रेम एवं करुणा हो और उनके मुख से सतत प्रेम एवं आशीर्वाद की धारा प्रवाहित होती रहती थी।

जब हमलोग स्वामीजी के पास जाया करते थे तो यह नहीं जानते थे कि भक्ति और ज्ञान क्या चीज है अथवा कर्म और ध्यान में क्या अन्तर है? हमलोग अनुभवहीन युवक थे। किन्तु हमलोग उनके प्रेम का अनुभव कर पाते थे—वह प्रेम लोकोत्तर था। हमलोग इसी गहरे प्रेम से आकर्षित होकर उनके पास आए थे। जो कोई भी एक बार स्वामीजी से मिला है, वह परख कर देख सकता था कि यह व्यक्ति प्रेम करना जानते हैं तथा संसार को प्रेम की शिक्षा देने के लिए उनका आगमन हुआ है। कितने ही युवक स्वामीजी के दैवी प्रेम से अभिभूत होकर संघ के संन्यासी बन गये। अभी भी उनका यह प्रेम युवकों को अपना जीवन त्याग कर दूसरों की सेवा करने के लिये विवश कर देता है।

●

पवहारी बाबा

—स्वामी विवेकानन्द

(परिव्राजक अवस्था में स्वामीजी तब भारत भ्रमण कर रहे थे। उस समय गाजीपुर में पवहारी बाबा नामक एक साधु से उनकी मुलाकात हुई। पवहारी बाबा स्वामीजी के श्रद्धा के पात्रस थे। स्वामीजी ने अंग्रेजी में उनकी जीवनी लिखी है।)

पवहारी बाबा एक गुफा में वास करते थे। गुफा के अन्दर वे दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने साधना में लींन रहते। इस दीर्घ—अवधि में वे क्या खाते कोई नहीं जानता था। इसलिए लोगों ने उन्हें पवहारी बाबा कहना शुरू कर दिया था। अर्थात् जिसका आहार सिर्फ पवन हो।

एक बार एक नाग सांप ने उनको डस लिया। सांप के तीव्र विष ने उन्हें शीघ्र ही मूच्छित कर दिया। मूर्छा-अवस्था में बहुत समय बीत गया। सब ने सोचा कि उनकी मृत्यु हो गई है। परन्तु आश्चर्य की बात यह हुई कि करीब दो तीन घंटे बाद वे फिर होश में आ गए। उठकर बैठने के बाद कुछ देर में ही वे स्वस्थ हो गए। सभी अवाक्। एक ने प्रश्न किया, बाबा, अभी कैसा लग रहा है?

होठों पर मंदहास बिखेर कर उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा। स्वर्ग से मेरे प्रियतम ने आज अपना दूत भेजा था।" मृत्युदूत नाग को उन्होंने प्रियतम का दूत कहा।

एक बार एक चोर उनके आश्रम में चोरी करने घुसा। पूजा की समस्त सामग्री एवं बर्तनों को इकट्ठा कर उसने एक पोटली बनायी। अचानक पवहारी बाबा उसके सामने आकर खड़े हो गए। उन्हें देख वह चोर भाग गया। हड़बड़ी में वह उस पोटली को ले न सका।

वे सबके बीच ईश्वर को देखते थे। उन्होंने सोचा, "मैं अचानक आ गया इसलिए यह व्यक्ति इस पोटली को छोड़ भाग गया।" एक पल भी न गंवाकर वे उस पोटली को उठा उस चोर के पीछे-पीछे भागने लगे।

चोर जितना तेज भागता, वे भी तेज भागने लगते। पवहारी बाबा का शरीर लम्बा एवं बलिष्ठ था। काफी दूर जाने के बाद वह चोर आगे न जा सका। चोर को उन्होंने पकड़ लिया। परन्तु आश्चर्य। चोर के कदमों पर उस पोटली को रख उन्होंने कहा, "मैंने तुम्हारे काम में बाधा डाली है, मुझसे अन्याय हो गया है। यह लो यह तुम्हारा है। तुम निःसंसोच उसे ले लो।"

एक चोर को यह आशा कभी नहीं हो सकती कि घूसा-लात देने के बजाय मालिक स्वयं आकर उसे माल दे दे। पवहारी बाबा की बातों पर उसने विश्वास नहीं किया परन्तु अंत में उनके कथन की सरलता एवं आन्तरिकता देख उससे विश्वास किए बिना न रहा गया। परन्तु वह उस पोटली को नहीं लेना चाहता था। और बाबा भी अड़े थे। अन्ततः बहुत अनुनय—विनय करने के बाद उस पोटली को चोर को दे वे आश्रम लौट आए।

वे अत्यन्त विनयी थे। वे किसी को कोई उपदेश देना नहीं चाहते थे और धर्म-प्रचार में भी उनकी रुचि नहीं थी। स्वामीजी ने उनसे कहा, "आप जैसे उन्नत महात्मा इस जगत में विरले ही होते हैं। यदि इस गुफा से निकल आप लोगों को उपदेश दें, तो जगत् पर बहुत वड़ा उपकार हो जा सका।"

पवहारी वावा ने उत्तर दिया। "स्वामीजी मैं एक कहानी आपको सुनाता हूँ, आप सुनिए। मेरे मन की बात आप तभी समझ पाएँगें।"

एक वहुत बुरा आदमी था। एक दिन एक बुरा कार्य करते हुए पकड़े जाने पर लोगों ने उसकी नाक काट कर उसे भगा दिया। अपने नाक-विहीन मुख को लोगों को कैसे दिखाए, यह सोच कर वह अत्यन्त दुःखी हो गया। वहुत सोचने के वाद उसने निश्चय किता कि अब वह लोगों के पास नहीं जाएगा, वन में जावा ही ठीक रहेगा। दुःखी होकर वह वन में चला गया।

परन्तु खाए क्या? किसी तरह एक बाघ का चमड़ा उसने जुटाया और उस पर साधु की तरह सज कर बैठ गया। किसी को वह जैसे ही आते देखता, ध्यान मुद्रा में बैठ जाता। इस अद्भुत साधु का प्रचार धीरे-धीरे लोगों में होने लगा। लोग उसके पास आने लगे। शायद अपनी नाक के इतिहास के पता लग जाने के डर से वह साधु कुछ वोलता ही नहीं था। लोग उसे मौनी साधु समझते थे। इससे उसके ऊपर लोगों का विश्वास और भी वढ़ गया। भक्त उसे खाना कपड़ा आदि उपहार देने लगे।

नाक कटे साधु का नाम धीरे-धीरे और भी फैल गया। उससे उपदेश प्राप्त करने के लिए भक्त आतुर रहने लगे। भक्तों में एक युवक शिष्य रूप से उनका अनुगामी हो गया। युवक ने सोचा कि यदि इन्हें अपना गुरु बनाया जा सके तो जीवन सफल हो जाएगा। इस परम् साधु का शिष्यत्व ग्रहण कर पाना सचमुच सौभाग्य की बात है।

यह सोचकर उसने साधु से कहा, "आप-सा साधु मैंने और नहीं देखा। आप मुझे संन्यासी वना अपना शिष्य बना लीजिए। मेरे ऊपर आपकी भारी कृपा होगी।"

साधु अब संकट में पड़ गए। शिष्य परन्तु प्रतिदिन आकर उनसे कातर भाव से निवेदन करता। इस तरह अनेक दिन वीत गए। युवक प्रतिदिन उनसे शिष्यत्व प्रदान करने का अनुरोध करते रहता। अन्ततः ऐसा हो गया कि उसे शिष्यत्व प्रदान करना साधु की मान-रक्षा के लिए आवश्यक हो गया। अन्त में उन्हें एक उपाय सूझा। युवक को एक दिन अकेला पा उन्होंने कहा कल भोर में मैं तुम्हे दीक्षा दूँगा। एक तेज उस्तरा ले आना।"

दूसरे दिन सुबह वह युवक एक उस्तरा हाथ में लेकर वहाँ उपस्थित हो गया। साधु ने पूछा-उस्तरा लाए हो?"

—"हाँ, लाया हूँ। यह लीजिए।" उस्तरा को भक्ति के साथ गुरु के हाथ में थमा कर उसने प्रणाम किया। साधु ने कहा "मेरे साथ आओ। उपयुक्त जगह पर ही मैं दीक्षा दूँगा।"

शिष्य के साथ वे घने जंगल में चले गए। वहाँ एक अच्छा स्थान देख उन्होंने कहा "यहाँ आँख बंद कर स्थिर हो कर बैठो। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

शिष्य ने वही किया। साधु ने तुरन्त उस्तरा से उसकी नाक को विच्छिन्न कर दिया। शिष्य एक दम हतप्रभ रह गया। नाक काटने के बाद गुरु ने गंभीर भाव से कहा, "देखो वत्स। यही मेरी दीक्षा है। मैं भी इसी तरह संन्यासी हुआ था। तुमको भी मैंने वैसे संन्यासी बनाया। अब तुम ऐसे ही साधुगिरी कर के खाओ। मौका पाते ही दूसरों को ऐसे ही दीक्षा देना।"

यह कहकर वह नाक कटा साधु अपनी गुफा में चला गया। शिष्य लज्जावश अपनी दीक्षा की कहानी किसी को नहीं कहता था। परन्तु वह यथा संभव गुरु की आज्ञा पालन करने की कोशिश करता था। इस प्रकार एक नाक कटे साधु का दल तैयार हो गया।

कहानी खत्म कर के पवहारी बाबा ने कहा "स्वामी जी, आप क्या कहते हैं? मैं कैसे लोगों को शिक्षा दे सकता हूँ?

आप चाहते हैं क्या कि मैं भी एक नाक-कटे साधुओं का दल तैयार करूँ?

विवेक चूड़ामणि

—स्वामी वेदान्तानन्द

अनुवादक डॉ० आशीष कुमार बनर्जी

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥२३४॥

विश्व यदि सत्य है तो सुषुप्तिकाल में भी उसकी उपलब्धि होना आवश्यक है। परन्तु ऐसा होता नहीं है अतः विश्व स्वप्नदृष्ट पदार्थ की भाँति सत्ताहीन मिथ्या ही है। २३४

जगत की स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता नहीं है। इसका अधिष्ठान आत्मा की सत्यता के लिए यह सत्य रूप में प्रतीत होता है।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मवः पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत्।
जारोपितस्यास्ति किमर्थतत्ताधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२२५॥

अतएव परमात्मा से भिन्न जगत का अस्तित्व ही नहीं है। जगत की पृथक् सत्ता का अनुभव (गुणी में) आरोपित गुणों की भांति मिथ्या है। आरोपित गुणों की क्या सत्ता है? जीव का अधिष्ठान ही भ्रमवश आरोपित वस्तु के रूप में प्रकाशित होता है।२३५

आकाश का कोई आकार अथवा वर्ण नहीं है। तथापि अज्ञातवश हम उसे गमले के आकार का एवं नीलवर्ण विशिष्ट कहते हैं। ठीक इसी भांति आत्मा में जगद्भ्रम आरोपित होता है। अधिष्ठान स्वरूप आकाश में आरोपित नीलता आदि गुण जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मा में आरोपित नाम और रूप भी मिथ्या है। सर्प में जब रज्जु भ्रम होता है, तब सर्प की गति, उसकी दंशन शक्ति आदि सभी गुण रज्जु में आरोपित होते हैं। परन्तु रज्जु सदैव एकरूप रहता है। भ्रमवश द्रष्टा उसमें सर्प दर्शन करता है।

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः।

इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥२३६॥

भ्रमवश अज्ञानी व्यक्ति को जो विभिन्न वस्तुएँ प्रतीत हो रही है, वे सब ब्रह्म मात्र ही हैं। (ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सीपी ही चाँदी के रूप में प्रकाशित होती है। इस जगत के रूप में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। ब्रह्म में आरोपित जगत नाममात्र ही हैं (इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है) ।२३६

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानधनं निरन्जनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥२३७॥

निरस्तमायाकृत सर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् ।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ॥२३८॥

इस दृश्यमान जगत की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इस हेतु इस जगत रूप में जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है, वह सबकुछ स्वरूपतः परम ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म सत्यस्वरूप अद्वितीय, केवल विज्ञान स्वरूप निरंजन, प्रशान्त, उत्पति और विनाश रहित, अक्रिय, अखण्ड आनन्दस्वरूप, मायाकृत भेदशून्य, नित्य-सुख-स्वरूप, ह्रासवृद्धिरहित, प्रमाण का अविषय, रूपवर्जित इन्द्रिय अगोचर, नामरहित, नाशशून्य एवं स्वयं प्रकाश है ।२३७-२३८

उक्त विशेषण श्रुतियों से लिये गये हैं यथाः— 'सदेव सत्यम्' जिसकी सत्ता त्रिकालावंधित है, अर्थात भूत वर्तमान एवं भविष्य तीनों काल में समभाव से वर्तमान है वही सत्य है।

अद्वितीय = द्वितीयशून्य 'एकमेवाद्वितीयम्'। छा० उ० ६।२।१

विशुद्धविज्ञानधन = विनाशादि दोषशून्य शुद्धज्ञानरूप। मु० २।४।४२

निरन्जन = अविद्यारूप आवरणशून्य। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधं निरन्जनम्'। श्वे० उ० ६।१९

प्रशान्त = रागद्वेषादि—दोषशून्य।

आद्यन्तविहीन = उत्पत्ति विनाश शून्य। 'अजो नित्यः शाश्वतोहंय पुराणो' क० उ०, १।२।१८

निरन्तरानन्द रसस्वरूपम्। 'निप्यं विज्ञानमान्दं ब्रह्म'।

निरस्तमायाकृतसर्वभेद = अविद्या से उत्पन्न जीव-जगत एवं ईश्वररूप भेदशून्य।

'नात्र कांचनमिदास्ति।' वृः ४।४।१९

निष्कल = अवयवशून्य।

'अशब्दमस्पर्शमरुपमव्य्यम्।' क० उ० १।३।१५

अनाख्यम = नामवर्जित। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' तै० उ०, ३।४

ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम् ।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥२३९॥

ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान—यह त्रिविध कल्पनारहित, अनन्त, निर्विकल्प, अखण्ड-चैतन्यस्वरूप परम तत्व को ब्रह्मनिष्ठ विद्वान व्यक्तिगण जानते हैं ।२३९

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णमहं महः ॥२४०॥

त्याग अथवा ग्रहण के अयोग्य, मन वाणी का अतीत, अप्रमेय, अनादि, अनन्त तेज; स्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही 'मैं' हूँ (जीव का यथार्थ स्वरूप) ।२४०

अनुपादेय—जो वस्तु मुझसे भिन्न है, उसी को ग्रहण करना सम्भव है। मैं स्वयं को ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता। आत्मा अद्वितीय होने के कारण त्याग्य अथवा ग्राह्य नहीं हो सकता है।

वैद्यनाथ च्यवनप्राश
अब पोलीजार में
उपलब्ध
वैद्यनाथ
च्यवनप्राश
यौवन
दिमागी ताजगी
विकास
बलवर्द्धक
आदर्श आयुर्वेदिक
पारिवारिक टानिक
कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?
प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं २०६ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।
वैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार क·
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
वैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

डाक पंजीयन संख्या – सी एच पी – १४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।